❖ श्री राम उवाच क्रमांक - 5
मानवता की खोज

❖ आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❖ प्रवेश :
3 फरवरी 2004

❖ प्रथमावृति
2100 प्रतियाँ

❖ मूल्य : 50/-

❖ अर्थसहयोगी :
आर. रतनलाल रांका, चेन्नई (सारोठ)

❖ प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ मुद्रक :
भद्रेश कुमार जैन
जैन प्रकाशन केन्द्र
53, आदियप्पा नायकन स्ट्रीट,
साहुकारपेट, चेन्नई- 600 079.
दूरभाष : 2529 9739, 3259 1400

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवं परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर हैं। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की 'पछेवड़ी' प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतंत्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति उसी चातुर्मास के पश्चात् विहार यात्रा के दौरान कानोड़, डूंगला, बिलोदा, अड़नेर, भीण्डर, बम्बोरा में दिये गये कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संरक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु मेरे मित्र श्री इन्द्रचन्द बैद ने ख्यातनामा शब्द-शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया। सम्पादित प्रवचनों का समीक्षण कविरत्न श्री गौतममुनिजी म.सा. द्वारा सम्पन्न हुआ।

श्री राम उवाच भाग-५ के प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलालजी रांका, चेन्नई का अर्थ-सौजन्य हेतु आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के भरपूर सहयोग से यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हो सका है। श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के प्रशस्त सहयोग हेतु मैं अपनी अनेकशः शुभकामनाएँ एवं शुभ भावनाएँ संप्रेषित किये बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि प्रमादवश यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

हमें विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य प्रवर की अमृतवाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

शान्तिलाल सांड
संयोजक :
साहित्य प्रकाशन समिति,
श्री अ.भा.सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर (राज.)

अर्थ सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका, चेन्नई (सारोट)

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर्य उदारमना श्रीमान् रोड़मलजी साहब रांका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनवाई मूल निवासी सारोट (ब्यावर के पास) हैं। आप धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री है। श्री रांकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण किये थे। नियमपूर्वक ६-६ सामायिक तथा स्वाध्याय आपके प्रतिदिन की दिनचर्या के अभिन्न अंग थे। आपके ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय श्री बालचंदजी रांका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यवसाय में अभिवृद्धि के साथ-साथ धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आपने अपार यश प्राप्त किया। समता भवन तंडियारपेठ निर्माण में आपका मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पद चिन्हों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोट संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी, श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रुणीवाल धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी रांका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदयी, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न है। आप न केवल व्यवसाय के क्षेत्र में कुशल है अपितु धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आपका कार्य क्षेत्र अति विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रुप में अविस्मरणीय एवं प्रशंसनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ, चेन्नई के मानद्मंत्री हैं। आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के राष्ट्रीय मंत्री एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, चेन्नई के उपाध्यक्ष भी हैं। आप स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं। उन संस्थाओं में आपका महत्वपूर्ण सहयोग

आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में ही नहीं अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरुपेण सक्रिय हैं । 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है । आर. आर. प्लास्टिक आपका व्यावसायिक प्रतिष्ठान है ।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती संतोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति से युक्त हैं । आप संत-सती सेवा में अग्रणी तथा आतिथ्य सत्कार में अभिरुचि रखने वाली एवं अपने पति को धार्मिक सद् कार्यों में सदैव सहयोग प्रदान करती रहती हैं । सचमुच में यह कहावत- यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि हर सफल व्यक्ति के पीछे एक महिला का हाथ होता है । आपके दो सुपुत्र श्री मुकेशकुमार और श्री राकेशकुमार हैं, जो अपने पिता श्री के पद चिन्हों पर चल रहे हैं । आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओतप्रोत हैं । आपके दो सुपौत्र ऋषभकुमार व आदेश्वरराज हैं ।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है । आदर्श त्यागी पंडित रत्न श्री धर्मेशमुनिजी म. सा. व महासती श्री जयश्रीजी म. सा. के आप संसार पक्षीय साला एवं भाई हैं ।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है । आपने स्वर्गीय आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की साहित्य समिति को सहायतार्थ सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है । हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के चार संग्रह निकल चुके हैं और पांचवाँ संग्रह आपके समक्ष है । सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इस का लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ-

केसरीचन्द सेठिया

अध्यक्ष : श्री साधुमार्गी जैन संघ, चेन्नई

अनुक्रमणिका

१. जं सेयं तं समायरे

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ जो देशना दी, उसमें निर्णायक स्थिति श्रोताओं पर छोड़ दी । कल्याण क्या है ? पाप क्या है ? इनके रूपों को स्पष्ट करते हुए तथा ज्ञान सामने रखते हुए भी उन्होंने कहा- 'जं सेयं तं समायरे ।'

जो श्रेय हो उसे तुम स्वीकार करो । उन्होंने दोनों बातें जनता के सामने क्यों रखी ? स्पष्टतः इस कारण जिससे दोनों मार्ग, दोनों बातें सुनकर लोग जाने ।

चूंकि सुनने की क्रिया मोटे रूप से हम कान द्वारा करते हैं । पर यह जरूरी नहीं कि कान से ही सुना जाये । श्रोतेन्द्रिय कान के नाते तो कहा जाता है, अंग के विभिन्न भागों से भी श्रवण हो सकता है । विज्ञान के इस युग में ऐसे प्रयोग तथा यंत्र निर्माण भी हुआ है । इस यंत्र को दांतों की पंक्ति के साथ दांत पर लगा दें तो दांत से भी सुन सकते हैं । तब कान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, दांत से भी सुन सकेंगे । बात अटपटी लगेगी पर ऐसे यंत्र ईजाद हुए हैं । जो भी हो, यह सत्य है कि सुनना मुख्य रूप से कान द्वारा ही होता है । इसके साथ मूल बड़ा विज्ञान जुड़ा हुआ है कि कान से ही सुनना क्यों ? इसका कारण यह है कि सुनने के बाद हम जो धारण करते हैं, स्मृति कोष में जो कुछ संग्रहित करते हैं, वह स्मृति कोष कर्ण के ऊपरी भाग में स्थित रहता है । ऊपर से हम देखते हैं कि कान सुन रहा है, पर उसके साथ अन्य सम्बन्ध भी जुड़े हैं । [illegible] का सम्बन्ध जुड़ता है [illegible] क्योंकि वह पौद्गलिक है [illegible] कान पौद्गलिक है । सुनने की शक्ति है कान के भीतर की [illegible] इन्द्रिय है । [illegible] ग्रहण करने की [illegible]

उपकरण इन्द्रिय, भाव-इन्द्रिय संयुक्त हैं और उसमें जब बल प्राण का पुट मिलता है, तब शब्द ग्रहण किया जाता है । अन्यथा शब्द मन तक नहीं पहुँच सकता । मन का उपयोग नहीं तो वह चेतना तक अनुभूति/श्रुति/ज्ञान पहुँचाने में सक्षम नहीं होगा । ऊपर से लगता है कि कान सुनते हैं, पर इसके साथ पूरा तंत्र जुड़ा होता है । सेतु का काम प्राण से होता है । प्राण किसे कहते हैं- यह भी समझें ? उन चैतन्य भावों को जागृत करने वाला, चेतना देने वाला प्राण है । इसी प्रकार परिभाषा आती है- जीव की । जीव किसे कहते हैं ? 'जीवति इति जीवः ।' जो जीता है, वह जीव है । दूसरी परिभाषा- जो द्रव्य, भाव प्राणों को धारण करता है । द्रव्य प्राण आयतित होते हैं अर्थात् इन्हें जीव निर्मित करता है, जीव की शक्ति से । भाव प्राण सदा चेतना/आत्मा के साथ विद्यमान रहते हैं । इन प्राणों के माध्यम से जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह आत्मा तक पहुँच जाता है । कवि ने कहा है- 'सयल संसारी इन्द्रिय रामी, मुनिगण आतमरामी रे...।'

इन्द्रिय रामी और इन्द्रियों से ज्ञान, ये दो बातें हैं । इन्द्रिय से ज्ञान भी होता है, इससे आत्म-कल्याण के पथ पर भी बढ़ा जा सकता है और पतन के गर्त में भी गिरा जा सकता है । यदि ये ज्ञान में माध्यम बन आत्मा तक निर्लिप्त भाव से अपनी जो कुछ अनुभूति है, उसे वहाँ तक पहुँचा दें और निर्णायक आत्मा जो निर्धारित कर दे अर्थात् निर्णय आत्मा करें तो वैसी स्थिति में ज्ञान उपकारी साधन बन सकता है । यदि वैसा नहीं होता है और एक-एक इन्द्रिय विषय ग्रहण में आसक्त हो जाती है तो वह अनुभूति आत्मा तक नहीं पहुँच पाती । वैसी स्थिति में ज्ञान उपकारी बनने के बजाय अपकारी बन सकता है ।

कभी-कभी व्यक्ति रूप-रंग देखता है- लाल, नीला, काला, पीला, सफेद आदि वर्ण है । हम सोचते हैं कि बाह्य पदार्थों में रंग है, इस पर गहरी दृष्टि से विचार करें- एक कमरा है, जिसमें अनेक व्यक्ति बैठे हैं अथवा यह धर्मसभा है, इसमें भी विभिन्न रंगों का समायोजन प्राप्त हो सकता है । इस कमरे में अनेक प्रकार का फर्नीचर है । इसकी दीवारें हरे

रंग की है, जिस पर तेल, वार्निश से चमक भी लाई गई है। टेवल-कुर्सी भी रंगीन है, उन पर वैठने वाले व्यक्ति एवं महिलाएँ भी अनेक रंगों के परिधानों से सुसज्जित हैं। फर्श पर श्वेत टाइलें जड़ी हुई हैं। एक व्यक्ति भीतर पहुँचता है। उसकी दृष्टि जिस रंग को ग्रहण करने में माहिर है या जिससे वह ज्यादा प्रभावित है, उस पर उसकी दृष्टि टिकेगी, वहीं उसका आकर्षण वनेगा। यद्यपि अन्य रंग भी वहाँ हैं पर उसका ध्यान एक ही रंग पर केन्द्रित होता है। इसका भी कारण हैं। हमारे भीतर जैसा रंग है, वना रहता है, वैसी ही अभिव्यक्ति वाह्य पदार्थ में प्रक्षिप्त होती है। विज्ञान का मानना है की वाह्य पदार्थ रंगहीन होते हैं। सूर्य की किरणें उन पर पड़ती हैं, पदार्थ उन किरणों को पी जाते हैं। किरणें भी अलग-अलग रंग की होती हैं। यदि कोई पदार्थ उन किरणों को पी जायें तो वह काला हो जाता है, जो नहीं पीता वह सफेद दीखता है। रंगों का एक पूरा विज्ञान है और उनके संवंध में वैज्ञानिकों की अपनी मान्यताएँ हैं, पर जैन सिद्धान्त की दृष्टि से प्रत्येक दृश्य पदार्थ में पाँच रंग होते हैं- काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। वात अटपटी लगेगी, ये कैसे हो सकता है ? यह लोहे का जो खंभा दिखाई दे रहा है, उसका रंग काला है। स्याह काला नहीं है पर काला है। दीवारें सफेद रंग से रंगी है, इसमें पाँच वर्ण कैसे हैं ? हम ऊपर से एक रंग ग्रहण कर रहे हैं। व्यवहार में प्रधान को ग्रहण कर रहे हैं अन्यथा निश्चय में तो पाँचों ही वर्ण हैं। एक पान में चूना लगाया, मुँह में रखा। पान हरा है, चूना श्वेत है पर मिश्रण से लाल रंग पैदा होता है। यदि उसमें लाल रंग नहीं होता तो लाल कैसे वन जाता ? हल्दी और नमक के मिलने से कैसा रंग वन जाता है ? हल्दी पीली होती है और नमक सफेद है, फिर क्या कारण है कि लाल रंग पैदा हो जाता है ? इस प्रकार स्पष्ट है कि पदार्थ में दूसरे रंग भी होते हैं पर अभिव्यक्ति का साधन संयुक्त नहीं होता है, क्योंकि वैसी स्थिति में अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जव हम उसे आँखों से ग्रहण कर तटस्थ वने रहते हैं तो वह ज्ञान कराने वाला वन जाता है और यदि उसके साथ राग-द्वेष जोड़ते हैं और सोचते हैं- यह अच्छा है, यह वुरा है तो वहाँ इन्द्रियरामी अवस्था वन जाती है।

आत्मारामी, इन्द्रियरामी ये क्या हैं ? ये दो बिन्दु हैं- एक बिन्दु इस छोर पर, दूसरा उस छोर पर है । यदि इन्द्रियों से हम देख, सुन, सूंघ अथवा चख रहे हैं परन्तु तटस्थ हैं, कोई तर्क-वितर्क नहीं हैं, शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय का भाव नहीं है और उस बिन्दु पर चेतना अवस्थित है तो वह अवस्था आत्मारामी अवस्था है । परन्तु जैसे ही वहाँ से थोड़े हटे, पास के बिन्दु पर आ गये, विचारने लगे- क्या शुभ है, क्या अशुभ है, गुलाब की गंध को सुरभि और गटर की गंध को दुर्गन्ध की संज्ञा देने लगे, बगीचे के पास से निकले तो लगा- दो चार श्वांसें और ले लो, गटर के पास से निकले तो मुंह पर रूमाल ढंक लिया, इस बिन्दु पर जहाँ हम चेतना से हटते हैं, वह इन्द्रियरामी अवस्था है । आत्मारामी अवस्था में चेतना से संबंध जुड़ता है । यह संबंध यद्यपि इन्द्रियरामी अवस्था में जुड़ता है पर तब अधिकार इन्द्रियों ने कर रखा होता है । इसके विपरीत जहाँ तटस्थ हैं, वहाँ इन्द्रियाँ भी हैं, पर अधिकार चेतना का है, अतः वहाँ आनंद की अनुभूति होती है । तब हम दुःख से ऊपर उठ, उस आनंद की स्थिति में पहुँच जाते हैं । सुख-दुःख, साता-असाता, ये कर्म जन्य अवस्थाएँ हैं । ठंड लग रही है, कमरा भी ठंडा है, आप सोये हैं, मन में विचार किया- कमरा गर्म हो जाय तो कितना अच्छा हो ! और उस समय कोई हीटर लगा दे तो राहत मिलेगी या नहीं ? ठंड दूर हो जायेगी, आराम से नींद आ जायेगी । अथवा गरमी का समय है, छोटी-सी कोठरी है, सोचेंगे पसीना-पसीना हो रहे हैं और वहाँ यदि A.C. की व्यवस्था हो गई तो पहले जहाँ असाता की अनुभूति हो रही थी, वहीं साता की अनुभूति होने लगेगी । इन्द्रियरामी अवस्था कर्मजन्य है पर यदि आत्मा की अनुभूति हो और चैतन्य केन्द्रों का संबंध जुड़ जाये तो वहाँ साता-असाता, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अटकाव नहीं आता, आनंद की अनुभूति ही होती है, यह है- आत्मारामी अवस्था । आत्मारामी से तात्पर्य है- आत्मा में रमण करने वाला, आत्मा की अनुभूति करने वाला ।

अनुभूति कैसे करें ? यों सोचे तो यह कार्य कठिन है पर दूसरे शब्दों

में सरल भी है पर हम इन्द्रियरामी बिन्दु से हट नहीं पाते हैं । दोनों बिन्दु पास-पास हैं । इसे यों समझें स्विच बोर्ड पर दो स्विच लगे हैं, एक का कनेक्शन लाईट से है और दूसरे का पंखे से हैं । एक को दवाने से प्रकाश मिलेगा, दूसरे से हवा । पर जिसे प्रकाश चाहिए वह पुनः पुनः पंखे के स्विच पर प्रेशर डालता रहे तो प्रकाश नहीं मिलेगा, वैसे ही ये दोनों बिन्दु पास-पास हैं । दिखने में समान है, ऑन/ऑफ भी एक प्रकार से होते हैं पर हमें यदि इसका ज्ञान नहीं है और हम एक को ही दवाते रहें तो वह हालत इन्द्रियरामी की होगी । आत्मा की अनुभूति वहाँ कैसे हो पायेगी ? 'एक्युप्रेशर' एक चिकित्सा पद्धति है, जिसमें सारे पाइन्ट्स पगथली और हथेली में होते हैं । पूरे शरीर के सेन्टर यहाँ से नियंत्रित होते हैं । अव जिस केन्द्र से जो संवंधित है, उस केन्द्र को दवाने से निदान की स्थिति वनेगी पर दूसरे केन्द्र को दवाने से वह स्थिति नहीं वनेगी । जहाँ-जहाँ अपने बिन्दु हैं, वहाँ-वहाँ के प्रेशर से ही अनुभूति होगी । यदि चैतन्य केन्द्र पर पहुँच जायें और स्विच दवाये तो आनंद की अनुभूति होगी, वहाँ दवाव न डालकर अन्य स्विच को दवायें तो इन्द्रियरामी अवस्था में जीते रहेंगे । कवि आनन्दघनजी ने कहा है- 'सयल संसारी इन्द्रियरामी ।' इन्द्रियरामी क्यों ? कारण यह है कि वह चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने का समय नहीं निकाल पाया । चैतन्य केन्द्र अछूता पड़ा है, स्विच ऑन करने का प्रसंग नहीं है, अटका पड़ा है, इन्द्रियरामी स्विच पर ही पुनः-पुनः प्रेशर डाल रहा है तो आत्मरामी अवस्था कैसे वनेगी ? एक व्यक्ति विचार करने लगा- मुझे दुनियाँ में रहकर वहुत नाम कमाना है, नाम कैसे कमाया जाय ? दो तरीकों से नाम कमाया जा सकता है । नाम राम ने भी कमाया, रावण ने भी कमाया, कृष्ण ने कमाया तो कंश ने भी, जरासंध और शिशुपाल ने भी नाम कमाया । नाम ऊँचा हो सकता है । कोई इन्द्रियरामी अवस्था में लगाता है तो कोई हवालाकांड से ऊँचा हो रहा है । कोई सूटकेस हाथ में लेकर वताता है ये मेरी निजी सम्पत्ति है । नाम गाँधी ने भी कमाया और प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने भी अपना नाम रोशन किया पर नाम ऊँचा करने में अवस्थाएँ एक सी थी या भिन्न ? उस व्यक्ति ने भी सोचा- नाम ऊँचा

करना है, कैसे हो ? उसने जमीन में एक जगह अपना नामांकन करा दिया, सोचा- अब मेरा नाम अमर हो जावेगा । कालान्तर में वहाँ मलीनता आ गई, नाम मटियामेट हो गया । उसने देखा तो दुःखी हो गया । दीवार पर नाम खुदाया, धीरे-धीरे दीवार भी जर्जरित हो गई । लेवड़े उतरे, नाम मिट गया । हम जानते हैं कि जब धुन लग जाती है तो व्यक्ति उसी के इर्द-गिर्द घूमता रहता है, उसे अन्य कुछ नजर नहीं आता । वह एक संकुचित घेरे में सिमट कर रह जाता है, बाहर नहीं निकल पाता । क्या होना चाहिए, इसी उलझन में इसी चिन्ता में लगा रहता है । चिन्तन तो करता है, पर उस सर्कल के भीतर ही । उसे तोड़ कर आगे नहीं फैला पाता । उसी घेरे में विचार बार-बार टकराते रहते हैं । हम विचारों को कितना उपयोगी बना पाते हैं ? दिन-रात के चौबीस घंटों में रात को छह घंटे और दिन को एक घंटा सोने का निकाल दें तो शेष सतरह घंटे जो विचार चलते रहते हैं, मन रूकता हैं ? नहीं रूकता । इतने घंटे जो विचार हुआ, जो मन चला उसमें से कितने विचार हम सार्थक कर पाते हैं ? क्रियान्विति में कितने विचार आ पाते हैं ? है हमारे पास उसका गणित ? मनोविज्ञान की दृष्टि से उत्तर होगा- इस सर्कल में तनावग्रस्त चिन्तन किया तो ६६ प्रतिशत व्यर्थ जावेगा, हो सकता है कि एक प्रतिशत कभी कामयाब हो जाये पर यदि व्यक्ति किसी भी परिस्थिति से भयभीत अथवा कुंठित है तो वह निर्णायक स्थिति तक नहीं पहुँचता । चिन्ता के घेरे से बाहर निकल ही नहीं पाता । भीतर घुटन पैदा [illegible] है तो ६६ प्रतिशत चिन्तन व्यर्थ चला जाता है, तब निराशा की स्थिति [illegible]ती है, व्यक्ति टूट जाता है । क्या करूँ, उसको समझ में नहीं आता । [illegible] पर हाथ धर कर बैठ जाता है । क्रियावती शक्ति निस्तेज हो जाती है, निर्णय नहीं कर पाता । माना गया है कि मस्तिष्क यदि उर्वर है और संकीर्ण घेरे में नहीं है तो १५ प्रतिशत विचार क्रियान्वित होते हैं, ८५ प्रतिशत व्यर्थ जाते हैं पर इन्द्रियरामी अनावश्यक रूप से चक्की चलाता है, तब ६६ प्रतिशत विचार व्यर्थ जाते हैं । मन को ऐसा बनाएँ कि आप चलायें तो चले और न चलाएँ तो न चले । हम केवली भगवान् को शास्त्रीय शब्दों में 'नो

सन्नी, नो असन्नी' कहते हैं । मन किसे कहते हैं ? संज्ञा मन से व्यक्त होती है । केवली भगवान् में मन की अभिव्यक्ति नहीं है, वहाँ मन रुका हुआ है । यदि उन्हें कभी जरूरत पड़ती है तो वे चला सकते हैं । उनमें क्षमता है, उन्हें स्विच का ज्ञान हैं, चाहें तव वंद कर सकते हैं । जरूरत नहीं है तो रुका हुआ है । देवलोक के देव, मन से भगवान् से वात करते हैं । फोन यदि एक ओर हो, दूसरी ओर न हो तो वात नहीं हो सकती, वैसे ही देव मन से प्रश्न करते हैं । केवली भगवान् मन से उत्तर देते हैं । उत्तर दे देने के वाद फिर रिसीवर को रख देते हैं । आत्मारामी अवस्था पर पहुँच जायें तो जव चाहे मन को उस दिशा में लगा सकते हैं और जव चाहें रोक सकते हैं । पर कव ? तव ही, जव चेतना की अनुभूति में आ जायें ।

नाम अमर कर जाने की कामना से प्रेरित प्रयास सफल न हो पाने से निराश हो, वह अपने आप में टूट गया । संकुचित दायरे में ही घूमता रहा और परेशान सा एक दिन संतों के पास पहुँच कर पागलों सी वातें करने लगा । मस्तिष्क पर उसका कोई कन्ट्रोल नहीं रहा था । महात्मा ने पूछा- भाई वात क्या है ? उसने उत्तर दिया- मैंने नाम लिखा पर वह मिट गया, जहाँ-जहाँ लिखता हूँ, वहाँ-वहाँ से मिट जाता है, मुझे नाम अमर करना है, कोई उपाय वताइये । महात्माजी ने उत्तर दिया- अच्छी वात है, नाम चाहते हो तो उपाय है । उसने कहा- उपाय वता दो । हम जानते हैं कि वात ऐसे नहीं वनती । चक्रवर्ती की भी नाम अमर करने की चाह थी । ऋषभकूट पर पहुँचे, देखा- शिलापट्ट नामों से भरा पड़ा था तो एक नाम हटाया और अपना नामांकन कर दिया । लेकिन नाम अमर करने का यह कोई तरीका नहीं हुआ, क्योंकि यदि कोई किसी दूसरे का नाम हटायेगा तो क्या कोई दूसरा उसका नाम नहीं हटायेगा ? उन्होंने हटाया तो दूसरा भी उनका हटायेगा । अव विचारणीय यह है कि जव उनका नाम नहीं रहा तो हमारे नाम की स्थिति कहाँ रहेगी ? आज स्थिति यह हो गई है कि व्यक्ति काम नहीं करना चाहता पर नाम ऊँचा करना चाहता है । नाम काम विना ऊँचा नहीं होता । इन्द्रधनु राजा ने सोचा- नाम ऊँचा हो । वह स्वर्ग

तो काम की तैयारी कर। दुनियाँ में जिसे भी जरूरत हो, सहायता की अपेक्षा हो, उसकी सहायता कर। उसने वैसा ही करना प्रारंभ किया। बस थोड़े ही दिनों में उसका नाम चारों ओर फैलने लगा। सत्य यह है कि नाम नहीं, काम प्यारा होता है। केवल चाम सुन्दर है, गौर वर्ण है तो नाम इतने ही से ऊँचा नहीं होगा, न काला होने से नाम डूबेगा। काम करें तो पूछ होगी। काम नहीं तो नाम भी नहीं होगा। इन्द्रियरामी में नाम की चाह होती है, पर आत्मरामी नाम नहीं, काम चाहता है।

आचार्य देव ! (आचार्य श्री नानेश !) किसी बड़े स्कूल में नहीं पढ़े थे। दांता छोटा सा गाँव है- 'क-का केवलिया' वह भी केलू से घोट लिया। अध्यापक महोदय भी ऐसे कि कभी आ पाते थे कभी नहीं, अतः वे स्वयं पढ़ते थे। हम जानते हैं कि अध्ययन कुछ संस्कारों के माध्यम से भी होता है और ऐसा अध्ययन अद्भुत होता है। आचार्य भगवान् गाँव के किसी भी व्यक्ति को दुःखी नहीं देख सकते थे। एक वृद्ध महिला को कुए से घड़ा भरकर लाते देख आचार्य भगवन् ने स्वयं घड़ा घर पहुँचा दिया। दुःखी से उनकी हमदर्दी रहती थी। दुखी के दुःख में वे भी दुःख का अनुभव करते थे। उन्होंने जीवन में नाम की कभी कामना नहीं की यद्यपि संघ के लिए निरंतर कार्य किया, इतना कार्य जिसका हम मूल्यांकन नहीं कर सकते। उनके जीवन का सिद्धान्त था- "कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन।" इसी निरासक्त भाव से वे कार्य करते रहे, वे जानते थे- इन्द्रियरामी होना क्या होता है ? चैतन्य केन्द्र क्या हैं ? स्वरूप की अनुभूति कैसे हो सकती है ? वे यह भी मानते थे कि 'सुख दिया सुख होत है, दुःख दिया दुःख होय।' हम यह भली प्रकार समझ लें कि पहले सुख-दुःख हमारे भीतर पैदा होंगे, तब ही हम वे दूसरे को दे पाएँगे। अतः पहले अनुभूति हमारे भीतर जन्म ले। आचार्य देव किसी संत को रुग्ण देखते तो वे अपनी बिमारी भूलकर उसकी सेवा में जुट जाते थे। ऐसा कैसे होता है, इसे एक घटना से समझें। बहुत बड़ा नाट्य अभिनेता एक बार बीमार हो गया। डॉक्टर आया- चेकअप करने लगा। ऐसा करते हुए वह डॉक्टर एक दम

गिर पड़ा और गिरते ही बेहोश हो गया । ऐसा देखते ही उस अभिनेता में, जो स्वयं बीमार था, चेतना जगी । वह तत्परता से उठा और डॉक्टर की संभाल करने लगा । डॉक्टर के ही उपकरण उठा कर वह बी.पी. चेक करने लगा । इस परिचर्या में वह भूल गया कि स्वयं बीमार था । थोड़ी देर बाद डॉक्टर उठ बैठा । उसकी बेहोशी दूर हो गई थी । उठने के बाद जब वह जाने लगा, तब कहा- "मुझे फीस दे दीजिए ।" नाट्य अभिनेता ने कहा- फीस किस बात की ? आपने किया क्या है ? उपचार तो मैंने आपका किया है और फीस आप मुझसे मांग रहे हैं ? मैंने तो आपकी सेवा सुश्रूषा की है । डॉक्टर ने कहा- "भाई मैं बीमार नहीं था, बेहोश भी नहीं था, पर बीमारी की मैंने अपने भीतर अनुभूति की और फिर उसे दूर करने का नुस्खा अपनाया । तुम्हारी बीमारी दवाई से नहीं, अभिनय से दूर हो सकती थी । इसलिए मैंने अभिनय किया, प्रयोग किया और वह शत-प्रतिशत सफल हुआ । इसलिए मुझे फीस चाहिये ।" इसी प्रकार एक केथेलिक साध्वी थी, जिसे छः माह से निरन्तर हिचकी आ रही थी । वह स्वयं भी बहुत अनुभवी थी परन्तु अब लाचार थी । कई डॉक्टर उसकी चिकित्सा के लिये लाये गये । अनेक प्रकार के उपचार किये गये, पर लाभ नहीं हुआ । लोगों ने सोचा- मनोचिकित्सक को भी दिखला लें । एक बहुत बड़े मनोचिकित्सक के पास उसे ले जाया गया । साध्वी की हिचकी रुक नहीं रही थी पर वह निरन्तर प्रभु स्मरण कर रही थी । मुश्किल से २० सेकण्ड बीते होंगे कि भयंकर क्रंदन करती हुई, वह साध्वी रूम से बाहर निकली और जिस दिशा से आई थी, उस दिशा में बिना रुके तेज भागी । उसकी [illegible] वंद हो चुकी थी । लोग देखने लगे कि ये कैसा तमाशा है ? क्या बात हुई, जो हंसती हुई अंदर गई थी और रोती हुई बाहर निकली और बीमारी कैसे दूर हो गई ? डॉक्टर ने कहा- "यह तो होना ही था ।" आप सोचेंगे कि यह क्या किसी जादुई डंडे का करतब था कि रोग दूर हो गया । यह बात नहीं थी । बात थी, इन्द्रियरामी बनने की, जो मैं पहले कह चुका हूँ । आत्मा तक पहुँचे, तब ही अनुभूति होगी । यदि बीच में जोड़,

संधि या टूटन है तो सप्लाई नहीं होगी । अवरोध होगा तो ज्ञान नहीं होगा । हम चाहें दृष्टि से देखते रहें पर प्राप्त कुछ नहीं होगा । दर्शन शास्त्र में भी कहा गया है- यदि व्यक्ति चिन्ता में निमग्न है, सामने हाथी खड़ा भी है पर वह प्रवेश नहीं पायेगा । मतलव, हाथी तो वैसे भी प्रवेश नहीं करता, यहाँ तात्पर्य है व्यक्ति सामने होते हुए भी देख नहीं पा रहा है, ऐसा इसलिये हो रहा है क्योंकि चिन्तन की धारा अलग चल रही है, कनेक्शन नहीं जुड़ा है । इन्द्रियरामी अवस्था से कनेक्शन कटकर आत्मारामी अवस्था से जोड़ लें तो आत्मा तक पहुँच पायेगें । उस साध्वी की चेतना तक वात चली गई कि हिचकी आ रही है, कनेक्शन जुड़ा हुआ था । यदि हम मेन स्विच से कनेक्शन काट दें तो लाईट नहीं जलेगी । डॉक्टर ने कहा- मैंने उसे कट कर दिया । वह हँसती आई थी, रोती गई, वीमारी दूर हो गई । तरीका यह था कि जव वह भीतर प्रविष्ट हुई थी तव उसने कहा था- मुझे हिचकी की वीमारी है । मैंने कहा- तुम हिचकी की मरीज तो हो पर यह पहले यह तो देखो कि तुम गर्भवती कैसे हो गई ? जैसे ही उसने यह सुना, कनेक्शन कट हो गया । उसके मस्तिष्क पर दूसरा भार आ गया । हिचकी वंद हो गई । वह रोती हुई निकली कि इज्जत कैसे वचाऊँ । ऐसा झटका कैसे लगता है ? आप जानते हैं । श्मशान में आप जाते हैं, चिता पर लाश जलती देखते हैं, आत्मा का संवंध जुड़ता है, प्रेशर पड़ता है, तव आपको लगता है- संसार आसार है, एक दिन अपने को भी यहाँ आना है, ऐसी चिता पर चढ़ना है । आत्मारामी अवस्था का स्विच दवा, कोई किसी का नहीं है । श्मशान गये तो स्विच दूसरा था पर ज्यों ही संसार में आये, दूसरा स्विच ऑन हो गया । श्री विवेक मुनिजी म.सा. के वैराग्य का कारण क्या वना ? वताया कि हिम्मतसिंह जी सरूपरिया प्रकाण्ड विद्वान थे । संत-सतियों को पढ़ाते थे । प्रसंग जो भी वना हो । मस्तिष्क का कंट्रोल नहीं रहा, अंतिम समय में नवकार मंत्र से भी एलर्जी हो गई । उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र पर थीसिस लिखी, उन्होंने अपने जीवन में नोट्स वनाये, लेख लिखे पर अंत में ऐसी दशा । मुनिजी ने सोचा- इतने वड़े विद्वान की यदि ये हालत है, तो हमारी हालत क्या हो सकती है ? वताइये संसार में ऐसी कौन

सी चीज है, जिससे वैराग्य भाव उत्पन्न नहीं हो सकता ? प्रत्येक तत्त्व हमें जागृत कर सकता है । प्रत्येक पदार्थ संवेदन देने के लिए तत्पर है पर जब तक हम उससे प्रेरणा को ग्रहण न करे, कुछ नहीं हो सकता । नमिराजर्षि ने चूड़ी की आवाज सुनी, आवाज बंद हुई, उसे ही वैराग्य का विषय बना लिया । करकंडू ने सांड को देखा, पहले देखा तब हृष्ट-पुष्ट था, अब वृद्ध हो गया था । मक्खियाँ भिनभिना रही थी, उन्हें उड़ाने की उसमें क्षमता भी नहीं रही । अब तो चल भी नहीं पा रहा था । यह था- बुढ़ापे का परिणाम । तभी तो लोग चिन्ता करते हैं- 'बुढ़ापा वैरी किस विध होसी थांसूं छूटको ।' लोग बुढ़ापा नहीं चाहते । उन्हें भय रहता है कि पता नहीं बुढ़ापे में क्या होगा ? बुढ़ापा तो नहीं चाहते पर जीवन को यदि व्यवस्थित नहीं रखा, जीवन कला का ज्ञान नहीं किया तो फिर वैसी असहाय अवस्था घटित होगी ही । मानसिक रोग भी आयेंगे और वे शरीर को अधिक जर्जरित भी करेंगे । मानसिक आघात का शारीरिक अवस्था पर भी असर होगा । बुढ़ापा तो आयेगा ही परन्तु यदि हम बुढ़ापा नहीं चाहते तो जीवन के तौर-तरीके बदलें । दीर्घ श्वांस ले, हमारा श्वांस नाभि तक जाना चाहिए । योग की दृष्टि से ऐसा करने वाला व्यक्ति जल्दी बीमार नहीं होता । आप स्वयं अनुभूति करें, शांति के क्षणों में । श्वांस कहाँ तक जाता है, यह मालूम पड़ जायेगा । जीने का तरीका भी समझें । इन्द्रियरामी अवस्था से ऊपर उठ कर चेतन केन्द्रों से जुडेंगे तो अवश्य आनंद की धारा भी प्रवाहित होगी और हम लाभान्वित होंगे अन्यथा इन्द्रियरामी अवस्था पर दबाव होता रहेगा तो हमारी अवस्था कैसी बनेगी ? यह समझ पाना कठिन नहीं है । जैसे डॉ. ने हिचकी के लिए प्रयोग किया था, वैसा ही आत्मा के साथ हम प्रयोग करें । इन्द्रियरामी अवस्था से हट कर आत्मारामी अवस्था में आ जायें, तब आत्मानंद की अवस्था बनेगी । तब हम सत्-चित्-आनन्दमय अवस्था का अनुभव करते हुए जीवन के शाश्वत स्वरूप का बोध कर पाएेंगे । चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की देशना के इस स्वरूप को हम समझें, तभी श्रेय का मार्ग खुल पायेगा ।

दिनांक : २३.१२.१९९६, कानोड़

२. पर्युपासना का स्वरूप

प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं को संबोधित करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है- कल्याण मार्ग को भी सुनो और पाप मार्ग को भी सुनो-

'सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।'

क्योंकि सुनने से ही कल्याण मार्ग का ज्ञान हो सकता है और सुनने से ही पाप मार्ग का ज्ञान हो सकता है । इसलिये यदि कल्याण और पाप मार्गों को जानना है तो सुनना होगा । जरा विचार करें कि उन्होंने यह क्यों नहीं कहा- अध्ययन करना होगा ? यह निर्देश क्यों नहीं दिया कि ग्रंथों का, आगमों का अध्ययन करो, अध्ययन करने से कल्याण मार्ग एवं पाप मार्ग को जान पाओगे । इस शंका का समाधान हमें ढूंढ़ना होगा ।

भगवान् ने स्वाध्याय करने की बात कही है । स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होना भी कहा है, पर कल्याण मार्ग, पाप मार्ग के लिए सुनने की बात कही । इसमें बहुत गहरा विज्ञान छुपा हुआ है । इस पर हमें गहनता से विचार करना होगा, क्योंकि ऊपर-ऊपर से ही अर्थ लगा लेने से अथवा गाथाओं का कोई अर्थ लगा लेने मात्र से हम कथन के मर्म तक नहीं पहुँच पायेंगे ।

भगवान् जब सुनने की बात कह रहे हैं तो स्पष्ट है कि सुने बिना कल्याण मार्ग, पाप मार्ग को नहीं जाना जा सकता । आगमों में, ग्रंथों में बहुत कुछ भरा हुआ है । उनका जब आलोडन करते हैं और गहराई से विचार करते हैं तो हमें वहाँ कुछ संकेत मिलते हैं । इस प्रकार स्वाध्याय के पाँच भेद- वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा कहे गये हैं । इन भेदों के रहस्यों को समझना भी आवश्यक है । वाचना का तात्पर्य यह

नहीं कि किताब उठाकर वांच ले अथवा उठाकर देख लें। वहाँ कहा है- "जंवू जाव पज्जुवासमाणे।" सुधर्मा स्वामी की पर्युपासना करते हुए जंबू स्वामी कहते हैं- अमुक अंग का यह भाव है तो आगे आने वाले इस आगम का प्रभु महावीर ने क्या कथन किया, यह गुरु की उपासना करते हुए जाना जाता है। हम बहुत कुछ सुनते हैं पर वह सब सार्थक नहीं होता। सुनने के लिए कहा है- "वसे गुरुकुले निच्चं-" गुरु के समीप रहे, समीप वास करे। समीपवास का क्या तात्पर्य है ? गुरु यहाँ है तो पास में बैठा रहे ताकि आने-जाने वाले देखें और यही समझें कि यह शिष्य गुरु के पास रहता है, गुरु को छोड़कर रहने वाला नहीं है। जो शिष्य इस भावना से बैठेगा, वह क्या पायेगा ? यदि ज्ञान के दरवाजें-खिड़की बंद करके बैठा है सिर्फ इसलिये कि आने-जाने वाले देखें तो समझ लीजिये कि वहाँ पाने के द्वार बंद हैं। जंबू स्वामी सुधर्मा स्वामी के इर्द-गिर्द ही नहीं रहते थे किन्तु पर्युपासना करते थे। पर्युपासना के अर्थ को समझना भी आवश्यक है।

पर्युपासना से तात्पर्य है- गुरु की आत्मा के निकट अपना वास बनाना। गुरु की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ना, यह है पर्युपासना। 'परि' उपसर्ग है, उसमें 'उपासना' शब्द जुड़ा है। उपासना कब होगी ? गुरु के हृदय के साथ अपनी आत्मा को संयोजित करें तब 'उप' अर्थात् नजदीक 'आसना' यानि आसन ले आना। ऐसे तो हम भौतिक आसन नजदीक ले आते हैं पर गुरु की आत्मा के नजदीक आत्मा को लाने का भी क्या सोचा ? इसका भी क्या कोई उपक्रम किया ? भाष्य-टीका उठाकर देखिये, वहाँ यह नहीं कहा गया है कि गुरु के निकट आसन लगा कर वैठें। यद्यपि अंतेवासी की विवेचना करते हुए कहा गया है- निकट वास करने वाला, किन्तु यदि शव्द को ही पकड़ कर बैठ जाएँ और कहें- गुरु के पास रहने वाला अंतेवासी है तो यह गलत अर्थ होगा। वहाँ कहा गया है- जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र का दान करने वाले गुरु है तथा जो अंधकार को दूर करने वाले हैं, ऐसे गुरु की आज्ञा, निर्देश धारण करने वाला अंतेवासी है। वह चाहे किसी भी क्षेत्र में रहने वाला हो, वह समीप

ही है । स्थान की दूरी तो चल जायेगी परन्तु यदि भाव की दृष्टि से थोड़ी सी भी दूरी हो तो काम नहीं जमेगा । हम जानते हैं कि दूध और दही के वर्तन सटा कर भी रख दिये जाये तो सवेरे दूध जमा हुआ नहीं मिलेगा । रात भर पास-पास पात्र रख देने से ही क्या जम जायेगा ? आप जानते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता । वहनें दूध के भीतर जावन डालकर हाथ से हिलाती हैं और उसे कुछ समय दही के सम्पर्क में रहने देतीं हैं, तभी दूध का दही जमता है । वैसे ही गुरु तथा शिष्य की आत्मा तदाकार हो तभी शिष्य की आत्मा में गुरु की आत्मा का अवतरण होता है और तव ही शिष्य की आत्मा गुरु की आत्मा में अवतरित होती है । जव दही दूध के अणु-अणु में रमता है, तव पूरे दूध को दही वना देता है । वैसे ही यदि शिष्य गुरु का अवतरण आत्मा के प्रदेशों में कर लें, तो अज्ञान एवं अंधकार का नाश होता है और ज्ञान-ज्योति प्रस्फुटित होती है । ज्ञान-ज्योति का प्रस्फुटन ही गुरु का अवतरण कहा गया है । अवतरण का तात्पर्य ज्ञान-ज्योति का अवतरण है । वह होगी, पर्युपासना में लीन वनने पर ही । ऐसी पर्युपासना जंवू स्वामी ने की थी, यही कारण है कि जंवू स्वामी सुधर्मा स्वामी की ज्ञान राशी को आत्मसात् कर पाएँ और वही आज हम तक पहुँची है । यह आज हमारा सौभाग्य भी है और दुर्भाग्य भी । सौभाग्य इस रूप में कि आज गाँव-गाँव में आगम हैं, यह जितना प्रचलन हुआ है वह छपाई के कारण हुआ है, पर उससे ज्ञान का ह्रास ही हुआ है । हम पर्युपासना से दूर हुए हैं, केवल ग्रंथों में मन लगा लेते हैं, यह दुर्भाग्य है । मात्र किताबों से ज्ञान नहीं मिल सकता, जो उपासना से मिलता है । इसलिए सुनने का कहा है- "सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।" हे भवी आत्मनो ! तुम सुनो । पर सुनना क्या ? यदि कुछ भी अनर्गल सुना अथवा किसी ऐसे कुपात्र से सुन लिया, जो विना सोचे-समझे वोलता हो, जिसकी वोलने पर लगाम नहीं हो, जिसे तौर-तरीके का ज्ञान नहीं हो, जिसने पहले जो वोला और वाद में जो वोला उसमें परस्पर संवंध नहीं हो तो उसे सुनने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि उससे तो कल्याण मार्ग, पाप मार्ग

का ज्ञान नहीं होगा । सच्चा ज्ञान तो आप्त पुरुष को सुनने से ही प्राप्त होगा । आप्त पुरुष किसे कहा जाय ? आप्त वह है, जिसके वचन अविसंवादी हों । फिर प्रश्न होगा, अविसंवाद याने क्या ? अविसंवाद अर्थात् जहाँ वचनों में परस्पर टकराहट न हो । जहाँ वचनों में टकराहट होती है तो वहाँ आप्त अवस्था नहीं हो सकती । आप्त पुरुष वह है, जो तत्त्वों का द्रष्टा-ज्ञाता होता है तथा अपने ज्ञान का अनुभूतिपूर्वक प्रतिपादन करता है । ऐसे आप्त पुरुष से ही कल्याण मार्ग और पाप मार्ग का सुनना सार्थक होता है ।

परिषद अथवा सुनने वाले भी तीन प्रकार के नंदी सूत्र में बताये गये हैं- (१) जाणिया (ज्ञानी) परिषद- जिसमें पहले से ही ज्ञान की ज्योति है । (२) अजाणिया परिषद- जैसे दीपक में तेल है, बाती है पर लौ का स्पर्श नहीं हुआ । (३) दुर्विदग्ध परिषद- जिस दीप में तेल है, बाती है, लौ भी है पर तेल में पानी मिला हुआ है । पहली परिषद में दीप जल रहा है तो प्रकाश मिलेगा । दूसरी परिषद में तेल है, बाती है, लौ नहीं है पर संभावना है, लौ लगी तो प्रकाश मिलेगा । तीसरी दुर्विदग्ध परिषद में दीप है, बाती है, तेल भी है पर तेल में पानी का बहुल भाग है । ऐसे दीपक से प्रकाश तो मिलेगा पर वह चड़चड़-चड़चड़ करता रहेगा । बाती जलती रहेगी पर लौ के प्रकाश में प्रफुल्लता नहीं रहेगी । कभी टिमटिमाएगी, कभी बूझने जैसी स्थिति में आ जायेगी । जाणिया अथवा ज्ञानी परिषद, जैसे पानी में पड़ा तेल बिन्दु फैल जाता है, उसी तरह समझ जाता है । प्रभु महावीर के चरणों में गौतम स्वामी आदि पहुँचे । प्रभु ने 'उप्पनेइ वा, धुवेइ वा, विगमेइ वा' त्रिपदी कही, उन्हें चवदह पूर्वों का ज्ञान हो गया ।

अजाणिया परिषद जिसे ज्ञान नहीं है पर गुरु की पर्युपासना में वह दत्तचित्त है, गुरु की आत्मा से उसने अपनी आत्मा को जोड़ लिया है । गुरु की लौ का स्पर्श होते ही उसमें ज्ञान का अवतरण हो जायेगा । तीसरी दुर्विदग्धा परिषद, गुरु का स्पर्श मिला भी पर तेल में पानी मिला हुआ है । वह थोड़ा सा जान लेता है, फिर गुरु के पास नहीं जाता परन्तु जो

ुरु के पास ज्ञान प्राप्त करने जाते हैं, उनसे पूछेगा- आज कांई विषय ाल्यो सा ? वह थोड़ा इधर से, थोड़ा उधर से सुन लेता है पर पूरी वात ान नहीं पाता, जैसी भी आधी वात पकड़ी, उसे ज्ञान मान लेता है और वयं को ज्ञानी समझने लगता है । हम जानते हैं कि- 'अध जल गगरी लकत जाय ।' ऐसा शिष्य सोचता है कि वह सव जानता है परन्तु वास्तव ं वह जानता नहीं । वह अपने को यों ही पंडित मानने लगता है । ंडितमानी उसे कहते हैं, जो ज्ञानी नहीं हो पर स्वयं को ज्ञानी, पंडित ानता हो । आजकल ऐसे पंडितमानियों का जमाना है । जानता कुछ नहीं, र ववंडर करता है कि वह वहुत कुछ जानता है । श्रुतज्ञान की वह वूंद ी नहीं जानता । वह तो राई जितना भी नहीं जानता । राई जितना भी ानता हो तो समझो वहुत जानता है पर उतना भी नहीं जानता और मझता है- पहाड़ जितना जानता हूँ । यह स्थिति है आज के पंडितमानी ी । इसलिए प्रभु ने सुनने के लिये कहा है-

> सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
> उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।

तुम दोनों मार्गों को सुन लो और फिर मेरा दवाव नहीं है कि ाधु वनना पड़ेगा । इच्छा हो जाय तो ठीक, अन्यथा 'अहासुहं'- जैसा सुख ो, वैसा करो । आचार्य देव (स्व. आचार्य श्री नानेश) ऐसा ही करते े । जव दीक्षार्थी तैयार होकर आ जाता था, तव प्रत्याख्यान कराने से पूर्व ुरुदेव पूछते थे- "वोल भाई ! क्या इच्छा है, अभी कुछ नहीं विगड़ा है । दि उतार-चढ़ाव हो तो अभी भी कुछ नहीं विगड़ा है । अभी तो माथा ुंड़ाया है, कपड़े ही वदले हैं। प्राण नहीं फूंके हैं । यही प्रभु महावीर भी हते हैं- सुन लो, सुनकर 'जं सेयं तं समायरे'- जो अच्छा लगे, वह ग्रहण र लो पर सुनने की सम्यक् क्षमता प्राप्त होगी- गुरु की उपासना से ी । सुनने का तरीका जानना प्रमुख वात है अन्यथा सुनना तो दुर्विदग्ध िष्य भी करता है किन्तु स्वयं गुरु की उपासना नहीं करता । गुरु की ाणी का अपनी आत्मा में अवतरण नहीं कराता । इधर-उधर से सुनकर

उन बातों को अपने दिमाग में फिट कर लेता है । गुरुदेव की भाषा में- "सोंठ का गांठिया और थोड़ी सी चीजें लेकर बैठ गया और सोचे मैं बड़ा दुकानदार हूँ ।" पर समझना यह है कि क्या बने हो । तोलो, भीतर देखो । किस स्टेज पर हो । पर आज देखने की दृष्टि नहीं है । दृष्टि है- यहाँ क्या है, वहाँ क्या है ? इसमें ही यदि भटकते रहे तो भीतर का ज्ञान प्राप्त नहीं होगा ।

सुनने के लिये बुद्धि के कई आयाम बताये गये हैं । यदि सुनने में मन जुड़ जाय पर बुद्धि न जुड़े तो सुनने की विधि पूर्ण नहीं होगी । सुनने के जो तरीके बताये गये हैं, उनमें कहा गया है- शुश्रूषा, जिसका अर्थ सेवा करना होता है । इसका एक अर्थ सुनने की इच्छा भी कहा गया है । यदि किसी की सुनने की इच्छा नहीं है, उसे आप जबरदस्ती लाकर व्याख्यान में बैठा भी दें तो वह क्या सुन पायेगा ? इसलिये पहले सुनने की इच्छा का जागरण होना जरूरी है । आपने सुना भी होगा कि एक व्यक्ति को जबरदस्ती व्याख्यान में लाया गया । उसे रूचि नहीं थी । सोचने लगा- कहाँ आ गया, इससे तो एक घंटे सिनेमा में चला जाता तो ठीक रहता । उसे व्याख्यान में बोरियत होने लगी । इस स्थिति में क्या उसका कल्याण हो पायेगा ? जबरदस्ती बिठा भी दें तो भी वह सुन नहीं पायेगा । इसीलिये भगवान् ने कहा है- पहले इच्छा का जागरण हो, फिर सुना जाय । जरा सोचिये कि एक व्यक्ति को भूख नहीं है पर आप जबरन परोसते जाएँ तो क्या फायदा ? आजकल का तो नहीं मालूम पर मारवाड़ में पहले बड़े बाजोट पर बड़ा थाल रखकर दस-पन्द्रह व्यक्ति साथ-साथ भोजन करने बैठ जाते थे । पहले तो भोजन कराते फिर जब पेट भर जाता, तब पीछे से कमर में घुटने लगाते और मुंह में लड्डू ठूसते थे । इस प्रकार जबरन खिलाते थे । वह जबरन ठूंसा भले खा ले, निकाले नहीं, बदनामी के भय से कि इतनी भी क्षमता नहीं, लेकिन उसे पचा नहीं पायेगा । उसका पाचन बिगड़ेगा, उसे अजीर्ण हो जायेगा । इसलिए कहा है- इच्छा जगे, फिर ज्ञान दिया जाय । भगवान् ने भी कहा है- 'सुट्ठु दिण्णं, दुट्ठु पडिच्छियं ।'

पात्रता नहीं, यदि सेर की हांडी में सवा सेर भर दिया जाय तो या तो उफान आकर वह निकल जायेगा या यदि पूरा ढक्कन लगा दिया गया तो हंडिया फूट जायेगी । वैसे ही पात्रता नहीं तो ज्ञान टिकेगा नहीं ।

आचारांग सूत्र में कहा गया है- 'मइमं पास' मतिमान देख । आप कहेंगे क्या देखेगा ? सुनने के साथ देखने की बात कहाँ आ गई ? भीतर की गहराई (क्षमता) को आपने देखा नहीं और अधिक लेने की कोशिश की तो पचेगा नहीं, इसलिए मात्रा को देख । मतिमान देख, ज्ञान की जिज्ञासा के साथ पचाने की क्षमता कितनी हैं ? क्षमता से ज्यादा ग्रहण करने की कोशिश की तो बोल-चाल की भाषा में बुजुर्ग कहा करते हैं- ज्ञानी के कोठे में अजीर्ण हो तो अहं पैदा होता है और तपस्वी तप को नहीं पचा पाये तो क्रोध पैदा होता है । ऐसा ज्ञानी वस्तुतः ज्ञानी नहीं है । यथार्थ में जो ज्ञानी होगा, वह अहंकारी नहीं होगा । अहंकारी ज्ञानी नहीं हो सकता । वह विद्वान्/पंडित हो सकता है । ज्ञान व अहं का परस्पर संबंध नहीं है, यदि संबंध है तो समझिए दूध में नींबू के या उसमें खून के टपके पड़ गए हों, ऐसा लगता हैं । वैसी विद्वता आत्मा के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकती । कल्याणकारी वही ज्ञान होगा, जिसे निरहंकार भाव से ग्रहण किया गया हो । यदि साथ में अहं का विष भी है तो साँप की तरह फुफकार मारेगा । फुफकार मारेगा तो ज्ञान को पचा नहीं पायेगा । अजीर्ण की स्थिति हो गई तो खट्टी डकारें आयेंगी । ज्ञान का अहं के रूप में प्रस्फुटन न हो, इसलिए गुरु कहते हैं- 'मइमं पास ।' देख घड़ा कितना भरा है, कितना खाली है । ऊनोदरी भाव है तो इच्छा बनी रहेगी । यदि एक बार में ही पूरा 'डोज़' ले लिया तो धाप जाओगे । फिर इच्छा नहीं जगेगी । फिर कितना ही सुनाओ कारगर नहीं होगा । पहले इच्छा जगे, तभी हम सुनने का उपक्रम कर पायेंगे ।

विनय का प्रसंग भी यहाँ उपस्थित होता है क्योंकि सुनने की क्रिया तथा पर्युपासना के साथ उसका संबंध भी जुड़ा हुआ है । पर विनय का स्वरूप है क्या ? क्या हम जानते हैं कि विनय समाधि किस चिड़िया का नाम

उन बातों को अपने दिमाग में फिट कर लेता है । गुरुदेव की भाषा में- "सोंठ का गांठिया और थोड़ी सी चीजें लेकर बैठ गया और सोचे मैं बड़ा दुकानदार हूँ ।" पर समझना यह है कि क्या बने हो । तोलो, भीतर देखो । किस स्टेज पर हो । पर आज देखने की दृष्टि नहीं है । दृष्टि है- यहाँ क्या है, वहाँ क्या है ? इसमें ही यदि भटकते रहे तो भीतर का ज्ञान प्राप्त नहीं होगा ।

सुनने के लिये बुद्धि के कई आयाम बताये गये हैं । यदि सुनने में मन जुड़ जाय पर बुद्धि न जुड़े तो सुनने की विधि पूर्ण नहीं होगी । सुनने के जो तरीके बताये गये हैं, उनमें कहा गया है- शुश्रूषा, जिसका अर्थ सेवा करना होता है । इसका एक अर्थ सुनने की इच्छा भी कहा गया है । यदि किसी की सुनने की इच्छा नहीं है, उसे आप जबरदस्ती लाकर व्याख्यान में बैठा भी दें तो वह क्या सुन पायेगा ? इसलिये पहले सुनने की इच्छा का जागरण होना जरूरी है । आपने सुना भी होगा कि एक व्यक्ति को जबरदस्ती व्याख्यान में लाया गया । उसे रूचि नहीं थी । सोचने लगा- कहाँ आ गया, इससे तो एक घंटे सिनेमा में चला जाता तो ठीक रहता । उसे व्याख्यान में बोरियत होने लगी । इस स्थिति में क्या उसका कल्याण हो पायेगा ? जबरदस्ती बिठा भी दें तो भी वह सुन नहीं पायेगा । इसीलिये भगवान् ने कहा है- पहले इच्छा का जागरण हो, फिर सुना जाय । जरा सोचिये कि एक व्यक्ति को भूख नहीं है पर आप जबरन परोसते जाएँ तो क्या फायदा ? आजकल का तो नहीं मालूम पर मारवाड़ में पहले बड़े बाजोट पर बड़ा थाल रखकर दस-पन्द्रह व्यक्ति साथ-साथ भोजन करने बैठ जाते थे । पहले तो भोजन कराते फिर जब पेट भर जाता, तब पीछे से कमर में घुटने लगाते और मुंह में लड्डू ठूसते थे । इस प्रकार जबरन खिलाते थे । वह जबरन ठूंसा भले खा ले, निकाले नहीं, बदनामी के भय से कि इतनी भी क्षमता नहीं, लेकिन उसे पचा नहीं पायेगा । उसका पाचन बिगड़ेगा, उसे अजीर्ण हो जायेगा । इसलिए कहा है- इच्छा जगे, फिर ज्ञान दिया जाय । भगवान् ने भी कहा है- 'सुट्ठु दिण्णं, दुट्ठु पडिच्छियं ।'

पात्रता नहीं, यदि सेर की हांडी में सवा सेर भर दिया जाय तो या तो उफान आकर वह निकल जायेगा या यदि पूरा ढ़क्कन लगा दिया गया तो हंडिया फूट जायेगी । वैसे ही पात्रता नहीं तो ज्ञान टिकेगा नहीं ।

आचारांग सूत्र में कहा गया है- 'मइमं पास' मतिमान देख । आप कहेंगे क्या देखेगा ? सुनने के साथ देखने की बात कहाँ आ गई ? भीतर की गहराई (क्षमता) को आपने देखा नहीं और अधिक लेने की कोशिश की तो पचेगा नहीं, इसलिए मात्रा को देख । मतिमान देख, ज्ञान की जिज्ञासा के साथ पचाने की क्षमता कितनी हैं ? क्षमता से ज्यादा ग्रहण करने की कोशिश की तो बोल-चाल की भाषा में बुजुर्ग कहा करते हैं- ज्ञानी के कोठे में अजीर्ण हो तो अहं पैदा होता है और तपस्वी तप को नहीं पचा पाये तो क्रोध पैदा होता है । ऐसा ज्ञानी वस्तुतः ज्ञानी नहीं है । यथार्थ में जो ज्ञानी होगा, वह अहंकारी नहीं होगा । अहंकारी ज्ञानी नहीं हो सकता । वह विद्वान्/पंडित हो सकता है । ज्ञान व अहं का परस्पर संबंध नहीं है, यदि संबंध है तो समझिए दूध में नींबू के या उसमें खून के टपके पड़ गए हों, ऐसा लगता हैं । वैसी विद्वता आत्मा के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकती । कल्याणकारी वहीं ज्ञान होगा, जिसे निरहंकार भाव से ग्रहण किया गया हो । यदि साथ में अहं का विप भी है तो साँप की तरह फुफकार मारेगा । फुफकार मारेगा तो ज्ञान को पचा नहीं पायेगा । अजीर्ण की स्थिति हो गई तो खट्टी डकारें आयेंगी । ज्ञान का अहं के रूप में प्रस्फुटन न हो, इसलिए गुरु कहते हैं- 'मइमं पास ।' देख घड़ा कितना भरा है, कितना खाली है । ऊनोदरी भाव है तो इच्छा वनी रहेगी । यदि एक बार में ही पूरा 'डोज़' ले लिया तो धाप जाओगे । फिर इच्छा नहीं जगेगी । फिर कितना ही सुनाओ कारगर नहीं होगा । पहले इच्छा जगे, तभी हम सुनने का उपक्रम कर पायेंगे ।

विनय का प्रसंग भी यहाँ उपस्थित होता है क्योंकि सुनने की क्रिया तथा पर्युपासना के साथ उसका संबंध भी जुड़ा हुआ है । पर विनय का स्वरूप है क्या ? क्या हम जानते हैं कि विनय समाधि किस चिड़िया का नाम

है ? हमने सोचा होगा गुरु के आने पर उठना, सामने जाना, सेवा कर देना, भोजन ले आना, उनके वस्त्रों का प्रतिलेखन कर देना, यही विनय है । परन्तु इसे शास्त्रकारों ने लोकोपचार विनय कहा है । यदि यह लोकोपचार है तो यथार्थ विनय कुछ और ही है । विनय को धर्म का मूल कहा गया है । सुनने बैठा हैं और यदि विनय नहीं है तो उपासना कैसे हो पायेगी ? इसलिये विनय के गहरे रूप को समझना आवश्यक है । डॉक्टर से औषध का ज्ञान कर लिया पर उसे विनयपूर्वक ग्रहण नहीं किया तो असर नहीं होगा । कभी-कभी विचार करता हूँ तो लगता है कि विनय यह हो सकता है- वि = विशिष्टः नयः । नय का अर्थ नम्रता, व्यवहार, विधि और बरताव भी होता है । जो व्यवहार विशिष्ट रूप का हो और हमारे भीतर वह प्रकट हो । इस प्रकार यदि विशिष्ट या विशुद्ध आचरण का हमारे भीतर प्रकटीकरण हो तो वह विनय है अन्यथा नहीं । तब समझें कि हम केवल शरीर साध रहे हैं । विनय भाव उत्पन्न होगा तो विशिष्ट प्रकार का प्रवाह बहे बिना नहीं रहेगा । हम यह भी कह सकते हैं- 'विगतः नयः यस्मात्'- जहाँ सारे विचार तिरोहित हो जायें परन्तु यह जड़ होना नहीं होगा । क्योंकि इसके पीछे भाव होता है-

अब सौंप दिया इस जीवन का, सब भार तुम्हारे हाथों में ।
है जीत तुम्हारे हाथों में और हार तुम्हारे हाथों में ।।

इसी कारण यहाँ सारे के सारे विचार-प्रवाह शांत हो जाते हैं, तर्क-वितर्क नहीं रहते । हम जानते हैं कि यदि नीचे आग जल रही हो तो बटलोई में उफान आयेगा । जब तक पदार्थ खद्बद्-खद्बद् करेगा, तब तक वह पक नहीं पायेगा । जब वह पक जायेगा, तब खद्बद्-खद्बद् बन्द हो जायगी । इसी प्रकार तब सारे विचार प्रवाह शान्त हो जायेंगे, जब हम सोचेंगे कि भगवन् ! तुम्हारे चरणों में जब सारा जीवन सौंप दिया, तब क्या रहा हमारा । यदि आप श्रमणोपासक हैं, भगवान् की उपासना कर रहे हैं और वस्तुतः "सव कुछ सौंप दिया" तब जैसा इशारा होगा- "इंगियागार संपन्ने" तव इंगित और आकार के अनुसार प्रवृत्ति की क्षमता आयेगी ।

यदि ऐसा नहीं किया और मात्र ऊपर से समर्पणा की तो भीतर खद्बद्-खद्बद् चलती रहेगी, प्रवाह शांत नहीं होगा। हम स्वयं अंधेरे में रहेंगे और दूसरों को भी अंधेरे में रखेंगे। हम अंधेरे में रहेंगे तो गुरु की लौ का स्पर्श भी नहीं कर पायेंगे। तेल में पानी मिला है तो दीपक चड्चड्-चड्चड् करता रहेगा। तब हम प्रकाश या ज्ञान की प्राप्ति सम्यक्तया नहीं कर पायेंगे।

'सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।'

आप सुन रहे हैं, कान से सुन रहे हैं पर मन से कुछ और ही सोच रहे हैं। ज्यादा से ज्यादा कान से सुन लिया पर मन का चक्का अलग ही चलाते हैं; कहीं की बात कहीं घटित करते हैं, गणित अलग ही लगाते हैं तो सुनने की स्थिति घटित नहीं होगी। हमें सोचना है कि प्रभु ने जो संकेत दिया है कि पहले सुनने की क्रिया करो, उसे गंभीरता से समझें, शब्दों पर नहीं, उनके मर्म पर जायें। सुनने की क्रिया का संबंध न जुड़े तो आगे क्या कुछ प्रवृत्ति कर पायेंगे? यह बता पाना बहुत कठिन है। डॉक्टर उपचार देता है। आप गये डॉक्टर के पास, डॉक्टर ने देखा, निदान कर दिया। कहा- यह दवा ले जाओ, पाँच दिन बाद वापस मेरे पास आना। वह यह नहीं कहता- इससे आप अच्छे हो जायेंगे। पाँच दिन बाद आप पहुँचे, दवाई दी। कहा- ठीक नहीं हुए तो फिर मेरे पास आना। उसे भरोसा नहीं है फिर भी डॉक्टर के पास जाता है और डॉक्टर के निर्देश के बाद भी पूरा कोर्स न ले तो डॉक्टर कहेगा- पूरा कोर्स नहीं लिया, बीमारी ठीक नहीं हुई तो हम क्या करें? पूरा कोर्स ले लें फिर भी बीमारी न जाये तो फिर कहा जा सकता है- ये क्या किया? अब तो स्थिति बदली है पर पहले चीन में डॉक्टरों को फीस नहीं वेतन दिया जाता था। इससे क्या अंतर आया? वेतन इसलिए दिया जाता था कि व्यक्ति बीमार न पड़े। यदि बीमार पड़ गया तो डॉक्टर से हर्जाना वसूल किया जाता था। आज व्यक्ति बीमा करवाता है। मान लीजिए आपने इन्श्योरेन्स कम्पनी में अपनी गाड़ी का बीमा करवा लिया और उससे कोई आदमी मर गया तो कम्पनी सारी राशि का भुगतान करता है। उसके लिए आप प्रीमियम की किश्तें भरते हैं, वैसे

ही चीन में डॉक्टरों को वेतन दिया जाता था कि तुम्हारी जवाबदारी है कि कोई बीमार न पड़े। यदि बीमार पड़ गया तो दवाई आदि का हर्जाना तुम्हें भुगतना होगा। यदि आपने कोर्स ही पूरा नहीं लिया, तब तो आप आरोप नहीं लगा सकते।

आप कहा करते हैं- 'सुणियो पर गुणियो नहीं।' सौ-पचास व्याख्यान सुन लिये, सुणता-सुणता आखी उमर हो गई। केश काला सुं धोला व्हेग्या। पर गुण्यों नीं-

सुण्या पर गुण्या नहीं, रीते चूल्हे फूंक।
गुरु बिचारा कांई करे, चेला मांही चूक॥

रीते चूल्हे में आग नहीं राखोड़ो भरियो है और भूंगली लेकर फूंक लगाओ तो आग सुलगेगी क्या ? तब राख ही उड़ेगी, उड़ते-उड़ते शरीर पर छा जायेगी। भूत बन जाओगे। यदि विधि को ध्यान में न रखा तो कैसे सुनेंगे ? स्थिति यह है कि न सुनने की मानसिकता है न सुनने का समय। व्याख्यान लम्बा चलता है, खा-पीकर आना पड़ता है, क्योंकि पहले पेट पूजा, फिर काम दूजा। खा-पीकर आये तो फिर आलस्य आयेगा, झपकी आ जायेगी। तब विधि से सुनना है तो कैसे सुने ? गुरु तो भव से तारण हार हैं पर समय कहाँ हैं। लेकिन यह भी समझ लीजिये कि जो-जो रात्रियाँ बीत गईं, वे लौटने वाली नहीं हैं। जिन्दगी ही जब गुजर गई, तब अव क्या होना है, फिर तो सुनना ही बेकार है।

सुनने का अधिकारी कौन है ? दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है- 'थंभा व कोहा मयप्पमाया।' ऐसा व्यक्ति क्या सुनेगा, क्या सीखेगा ? जो क्रोध, माया, प्रमाद, रोग और आलस्य से ग्रस्त है वस्तुतः वह पात्र नहीं हैं। यदि खद्‌वद्‌ समाप्त नहीं हुई है फिर भी कुछ और पदार्थ डाल दें तो अर्जीर्ण ही होगा, कुछ भी अंग नहीं लगेगा। अजीर्ण बढ़ेगा तो फिर वह जीर्ण में ले जायेगा। जो वीमारी अब तक पेट की थी, वह यदि धातुगत वन गई तो शमन कठिन होगा। जीर्ण अवस्था का उपचार कठिन होता

है । परिश्रम करना पड़ता है तो कष्टप्रद होता है । इसलिए जब प्रारंभिक अवस्था है, तब ही उस शांत-प्रशांत करने का प्रयास करें अन्यथा वह प्रवाह हमारे भीतर प्रवाहित नहीं होगा । इस भावना से सुनें फिर निर्णय लें, तब ही सुनना कल्याणप्रद हो सकता है । तब ही कल्याण मार्ग को सुन पायेंगे, समझ पायेंगे नहीं तो न कल्याण मार्ग को, न पाप मार्ग को सुन पायेंगे, न समझ ही पायेंगे । इस स्थिति को एक दृष्टांत द्वारा समझें ।

एक जगह महाभारत का वाचन चल रहा था । भक्त सुनने के लिये पहुँचे । जब सुना कि द्रौपदी ने पाँच पतियों का वरण किया था और यह भी सुना कि धर्मराज ने उसे दाँव पर लगा दिया । कथा एक पटेलन भी सुन रही थी, वह पंडितजी के पास पहुँची और कहने लगी- "महाराज ! यदि यह महाभारत मैं पहले सुन लेती तो मेरे जीवन का कल्याण हो जाता ।" पंडित जी ने सोचा- देखो कितनी भावुक आत्मा है, एक बार सुना है, पर अब सुना तो कल्याण क्यों नहीं होगा ? तब तक वह आगे बोली- अबे कांई करूँ, अब तो समय निकल गया मेरा भी बुढ़ापा आ गया । उसने बात स्पष्ट की- बात ऐसी है कि द्रौपदी ने पाँच पतियों का वरण किया था, यदि मेरी जवानी होती तो मैं भी पाँच पतियों का वरण करती । इधर सभा में पटेल भी बैठा था । वह भी आया, कहने लगा- यदि यह महाभारत मैं पहले सुन लेता तो बहुत अच्छा हो जाता । पूछा गया- क्या अच्छा हो जाता ? उत्तर मिला- अब तक तो मैंने घर की सम्पत्ति ही दाँव पर लगाई थी । मुझे यह नहीं मालूम था कि पत्नी को भी दाँव पर लगाया जाता है । आज मालूम हुआ कि हमारे आदर्श पुरुष धर्मराज ने पत्नी को भी दाँव पर लगाया था तो मैं भी अपनी पत्नी को दाँव पर लगाकर अपनी हारी हुई सम्पत्ति अर्जित कर लेता ।" आप कहेंगे खूब अच्छा कहा ! लेकिन समझ लीजिए कि यदि ऐसी स्थिति रही तो कुछ नहीं मिलेगा । ऐसे निष्कर्ष निकालेंगे तो कहेंगे- मति ठीक नहीं है । ऐसी बातें सोचेंगे तो जीवन में निर्माण नहीं होगा । जिस सत्य को लेना है, उसे ले नहीं पायेंगे । क्या कल्याणप्रद है ? क्या हेय है ? धर्म ग्रन्थ हमें दोनों का बोध कराते हैं । वे यह भी बताते हैं कि ऐसा

करने से कितना नुकसान हुआ। द्रौपदी को दाँव पर लगाने से कितनी हानि हुई। पर यह सब कौन सोचता है ! बस एक बात पकड़ ली और निर्णय कर लिया, तब उसका सुनना कहाँ सार्थक होगा। अतः दोनों मार्गों को जानो, फिर वह मार्ग स्वीकार करो, जो सुख के लिए श्रेयस्कर है, तब ही इसे सुनना कहेंगे, तब ही उसका लाभ भी मिलेगा। इस प्रकार सही निष्कर्ष निकालो और उसे ग्रहण करो।

इस संसार में बहुत से पदार्थ भरे पड़े हैं- तांबा, पीतल, कांसा, लोहा आदि किन्तु यदि चुम्बक घुमेगा तो किसे आकृष्ट करेगा ? केवल लोहे को। वैसे ही हम जहाँ भी हों, कहीं भी घूमें, किन्तु जो जीवन के लिए उपयोगी है, उसे ही आकर्षित करें। इस प्रकार गुरु का अवतरण अपने भीतर कर लें। गुरु के ज्ञान से, लौ से रगड़ करेंगे तो हमारे भीतर भी ज्ञान पैदा होगा। आप कहेंगे हमारे भीतर दीप कहाँ है, बाती कहाँ है ? भले ही नहीं है पर जैसे एरंड की लकड़ी या चकमक पत्थर के दो टुकड़े जब आपस में रगड़े जाते हैं तो उस रगड़ से आग पैदा हो जाती है। विद्युत के लिए भी कहा गया है कि- संघर्ष-रगड़ से पैदा होती है। उसी प्रकार आवश्यक है कि गुरु के ज्ञान से हमारे ज्ञान की रगड़ हो जाये। कहा भी जाता है-

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निशान।।

रगड़ लगाते चलें तो एक दिन हमारे भीतर भी ज्योति निश्चित रूप से जगेगी और यदि यह सोच लिया कि इतने दिन हो गए, रगड़ पट्टी करते-करते, अव कब तक करें, तो क्या पता कि अगले ही क्षण ज्योति प्रकट होने का हो। इतनी दूर आकर रूक गये तो यह परम दुर्भाग्य होगा, क्योंकि फिर तो पुनः शुरू से रगड़ लगानी पड़ेगी। भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी से कहा- 'गोयम ! तिरमा गए।' तीर पर आ गए हो। तीर पर आकर कोई हताश अथवा उदास हो गए तो सोचिये कि क्या दशा होगी।

बम्बई में आचार्य देव के साथ बाहर जाने का प्रसंग आया । समुद्र के पास गए, दरिया को देखा तो लोगों ने बताया, इस दरिये में कोई भी चीज होती है तो लहरें उसे किनारे पर लाकर डाल देती हैं । किनारे पर डाल देने पर भी यदि नहीं संभाला, नहीं उठाया तो दूसरी लहर उसे पुनः बहा कर ले जाती है । यदि हम सचेत नहीं रहे तो ऐसा ही हमारे साथ भी होगा । किनारे पर आकर भी उदास हो गए तो फिर चतुर्गति के चक्कर में पड़ जायेंगे । हम किनारे आ गए हैं, शायद अगले ही क्षण एक रगड़ से ज्योति पैदा होने वाली है । अतः पहले हम सुनने की विधि जान लें । आगे और भी बातें हैं, वे न भी सीखें तो कम से कम सुनने की विधि तो अवश्य सीख लें । और वह सुनना भी विनय से हो । यदि वह इच्छापूर्वक भी होगा तो वह निश्चय ही कल्याणकारी भी होगा । यह भी ध्यान रखें कि यदि कुछ संशय, शंका अथवा अनिश्चय की स्थिति है तो भी फल नहीं मिलेगा । क्योंकि कहा गया है- श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, विश्वास फलदायकं । श्रद्धावान को ही ज्ञान का लाभ मिलता है तथा विश्वास का फल होता है । अविश्वास, संशय, शंका ही खद्बद् है । यदि खद्बदाहट मौजूद है तो कार्य नहीं होगा । विचारों को शांत बनाकर गुरु की वाणी को अपने भीतर उतारते चलें । हमारा सौभाग्य है कि गुरु ज्ञान का वह नवनीत हमारे लिये मौजूद है । अतः गुरु से तादात्म्य स्थापित करें । सुनने से रगड़ पैदा होगी । स्वाध्याय के जो पाँच भेद कहे गये हैं, उनके माध्यम से ज्ञान को परिपक्व करें, निश्चय ही वह आत्मा के लिए कल्याणकारी होगा और इस प्रकार सुनना सार्थक होगा । वह भवों-भवों की बीमारी को शांत भी करेगा । तब गुरु ज्ञान और सुनना सभी कुछ सार्थक हो जायेगा । इसलिये संकल्प पूर्वक, अविचलित रहकर जीवन में प्रयास करें । यह जीवन जो हमें अनेक भवों में भ्रमण के बाद प्राप्त हुआ है, कहीं व्यर्थ न चला जाये, नहीं तो पता नहीं, कितने और भवों में पुनः भटकना होगा ।

दिनांक : २४.१२.१९९६, कानोड़

३. संयम कल्याण का मार्ग

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर वीतराग मुद्रा में विराजमान हैं। गणधर गौतमस्वामी/इन्द्रभूति प्रभु के चरणों में पहुँचे। वन्दना-नमस्कार करते हुए पर्युपासना की मुद्रा में निवेदन करते हैं- हे भंते ! आप निरन्तर भव्य आत्माओं के कल्याण हेतु दिव्य देशना का अमृत प्रवाहित कर रहे हैं, पर सांसारिक व्यक्तियों का कल्याण नहीं हो रहा है। उनकी दयनीय दशा को देख कर दिल दहल उठता है। सभी जीना चाहते हैं और जीने के साथ-साथ सुख की भी उनकी कामना रहती है। परन्तु वे अधिकांश तथा दुःख में झुलसते रहते हैं। अनेक लोग तो भरी जवानी में बुढ़ापे के दुःख को भोगने के लिये विवश हो जाते हैं। उनकी दयनीय दशा देखकर विचार होता है कि आप जैसे सर्वज्ञ, वीतराग, भव-भव की बीमारियों का नाश करने वाले, आध्यात्मिक चिकित्सक के रहते हुए भी यदि प्राणियों का कल्याण न हो तो यह दुःख और आश्चर्य का विषय है। उनका दुःख नहीं देखा जाता। भगवन् ! वे सुखों को कैसे प्राप्त करें ? कोई ऐसी विधि बताइये, जिससे उनके दुःखों का विनाश हो सके।

गौतमस्वामी का निवेदन सुनकर वीतराग भगवान् ने कहा- गोयमा-गौतम ! तुम जानते हो कि बिना कारण कोई भी कार्य निष्पन्न नहीं होता। उन व्यक्तियों का, जिनका तुमने चिन्तन किया है तथा जिनकी मनोदशा, भौतिक स्थिति तथा समस्याओं का विवरण प्रस्तुत किया है, वह भी निर्हेतुक नहीं है। तात्पर्य यह है कि उसके पीछे भी कारण हैं। बिना कारण भी कोई कष्ट, तनाव अथवा दुःख होना संभव होता तो सिद्ध भगवान् भी बचे नहीं रह सकते थे। क्योंकि बिना कारण होने वाला दुःख किसी को भी हो सकता है, चाहे वे अरिहंत या सिद्ध ही क्यों न हो। पर

अरिहंत या सिद्ध को हम तनाव में नहीं देखते। इससे स्पष्ट होता है, इसके पीछे कोई न कोई कारण है । बिना कारण के कार्य की निष्पत्ति नहीं होती। कभी-कभी मूल कारण पर निगाह नहीं पहुँचती और परिणाम को ही देखकर उसी पर अपनी राय वना ली जाती है । हम जानते हैं कि कृषक बीज डालता है, परन्तु यदि फसल प्रतिवर्ष के आंकडें से कम होती है तो वह पौधे के ऊपरी भाग को नहीं देखता किन्तु जड़ को देखता है । जड़ में यदि कीटाणु नहीं लगे हैं तो फसल कम आने का कोई कारण नहीं। यदि मूल स्थान अर्थात् जड़ की अवस्था ठीक है, खाद-पानी बराबर मिला है तो फसल कम नहीं हो सकती । वैसे ही व्यक्ति मूल तक पहुँच जाये, कारण की स्थिति ज्ञात हो जाय तो वह स्वयं को दुःख से उबार सकता है । अन्यथा अधिकांश व्यक्ति कार्य-रूप मूल को न देख, दुःख से बैचेन होकर दौड़ते हैं तथा दुःख से वचने के प्रयास करते हैं। फल से बचाव का प्रयास किया जाय तो वह बचाने में सक्षम नहीं होगा ।

इस स्थिति को प्रतिक्रमण के पश्चात् बोली जाने वाली सूक्ति से समझा जा सकता है। प्रतिक्रमण के पश्चात् बोला जाता है- 'आगे-आगे दव बले, पीछे हरिया होय ।' आगे-आगे घास जल रही है और पीछे हरी होती जा रही है। कई भाई कहते हैं- इसका क्या तात्पर्य है, अनेक जानते भी हैं। आगे-आगे दुःख को नष्ट करने का प्रयत्न होता है, पर पुनः-पुनः दुःख और उसका कारण कर्म होता रहता है। किसी व्यक्ति के घाव हो जाय, शाम को ठीक करे, सुवह देखे तो फिर रस्सी (पस) आ गई हो तो चिन्ता की स्थिति बनेगी ही। अथवा यों समझें सुबह किसी ने देखा, उसकी जमीन पर किसी ने अतिक्रमण का प्रयत्न किया, उसने शाम तक उसे हटा दिया पर सुबह फिर से अतिक्रमण का प्रसंग बन जाये तो चिन्ता होगी ही। तब उसके पीछे छिपे हुए कारण को देखना होगा। किसी घटना की पुनरावृत्ति क्यों हो जाती है, यह देखना होता है। फोड़ा ऊपर से ठीक हो गया दिखता है किन्तु खुजाल आ रही है, रात में फिर से रस्सी पड़ गई तो जरूर कुछ कारण है। ऊपर से सूखने से ही वह ठीक नहीं हो जायेगा ।

चतुर व्यक्ति पीछे रहे कारण को देखता है, नहीं तो कभी-कभी ऊपर से तो सूखा दीखता है पर अंदर रस्सी भरती रहती है और फोड़ा नासूर का रूप धारण कर सकता है। वैसे ही व्यक्ति दुःख के कारण में न पहुँच कर दुःख से ही छुटकारा पाने का मानस वनाए रखता है तो उसका अंत नहीं आता। ऐसे दुःख का कारण होता है परन्तु व्यक्ति स्वयं को समस्या में उलझा मानता है। एक समस्या पूर्ण हुई कि दूसरी सामने आ जाती है।

एक भाई वाहन के माध्यम से जा रहा था। अर्द्ध रात्रि के समय एक स्थान पर पहुँचता है, वहाँ उसका वाहन कीचड़ में फंस जाता है, निकलने का नाम नहीं लेता, प्रयत्न करता है पर निकाल नहीं पाता। जब गौर करके देखता है तो एक व्यक्ति नजर आता है। उसको सहयोग के लिए कहा। उसने दस रुपये लिए और गाड़ी को धक्का लगाकर निकाल दिया। वस्तु स्थिति यह थी कि वह प्रतिदिन वहाँ मिट्टी में पानी डालकर कीचड़ पैदा करता था और जब उसमें वाहन फंस जाते थे तो धक्का देकर निकलवा देता और बदले में ५/१० रुपये वसूल कर लेता था। इसी तरह व्यक्ति स्वयं ही समस्या पैदा करता है, फिर धक्का लगाकर उसे पार करता है। केन्सर के कीटाणु जब किसी अंग पर आधिपत्य कर लेते हैं तो फिर वे उतनी द्रुत गति से फैलते हैं कि उनका नियंत्रण असंभव हो जाता है। इसलिए डॉक्टर्स जब देखते हैं कि अमुक अंग में फैलाव है तो वे उसे काट ही देते हैं, क्योंकि फैलाव को रोकना संभव नहीं होता। यही स्थिति दुःख के कीटाणुओं की होती है। जिन्हें हम कारण रूप में संजोते हैं, वे चित्तवृत्तियों में द्रुत गति से फैलते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी उत्पत्ति, विकास और मूल अस्तित्व को ढूंढें। जरा सोचें कि कोई किसान अपने पड़ोसी के खेत को नुकसान पहुँचाने के लिये उसमें थोड़े से कीटाणु फैला दें तो वह खेती तो खराब होगी ही किन्तु हवा के झौंके से वे कीटाणु यदि फैल जायें तो अपने स्वयं के खेत को भी वह नहीं बचा पायेगा। एक छोटी लता अमर बेल का छोटा सा टुकड़ा किसी वृक्ष पर डाल दिया जाय तो थोड़े से समय में ही वह पूरे वृक्ष पर छा जाती हैं। फिर उस लता के मूल का पता नहीं

लग पाता । वह लता स्वयं तो हरी-भरी हो जाती है, किन्तु उस वृक्ष को सुखा देती है । इसी प्रकार यदि दुःख के मूल कारण को चित्तवृत्ति में छोड़ा और पनपाया तो वह सम्पूर्ण जीवन पर छा जायेगा और पूरा व्यक्तित्व कुंठा-ग्रस्त हो जायेगा । जो व्यक्ति जीवन से ऊब जाता है, उसे लगता है कि अब जिन्दा रहने में कोई फायदा नहीं । ऐसा व्यक्ति दुःख के कारण को नहीं ढूंढ़ पाता और जव तक वह इसे नहीं जान पाता, वैसी दशाएँ बनती रहेंगी ।

तनिक सोचें कि दुःख के मूल कारण क्या हैं ? मनोविज्ञान ने इसके जो कारण ढूंढें हैं, उनमें एक है- लोभ । लोभ के वाद दूसरा कारण है- भय । भय क्यों पैदा होता है ? हमारे भीतर लोभ है । लोभ तिरोहित नहीं होता । चित्तवृत्तियों में तृष्णा के भाव हैं, जो लोभ को प्रोत्साहित करते हैं । उसके कारण लोग भयभीत ही नहीं बने रहते अपितु तनावग्रस्त भी बनें रहते हैं । जो जिंदगीभर दूसरों को तनाव देता रहता है, वह स्वयं अमन-चैन से कैसे जी सकता है ? यही नहीं हमारे भीतर दया और अनुकम्पा भी नहीं है । फिर भी हम चाहते हैं कि हम सुख-शांति से रहें । तव कहाँ से सुख-शांति आयेगी ? हम निरन्तर दुःख में रहते हैं फिर भी कारण ढूंढ़ नहीं पाते । यदि कारणों की यह शृंखला जुड़ती जायेगी तो अमर बेल की भाँति छा जायेगी । हम उसकी जड़ को नहीं ढूंढ़ पायेंगे । आज अनेक व्यक्ति तनाव से ग्रस्त हैं । उन्हें स्वयं को तनाव के कारणों का पता नहीं होता । उन कारणों को ढूँढ़ना होगा और उन्हें दूर करना होगा । अन्यथा दुःख दूर नहीं होगा । हम यह समझ लें कि चित्तवृत्ति संशोधित नहीं होगी, तब तक हम दुःखी ही बनें रहेंगे ।

इस संदर्भ में हम योग की महिमा पर भी विचार करें । योग की परिभाषा अलग-अलग आचार्यों ने अलग-अलग ढंग से दी है । आचार्य देव ने उसे परिभाषित करते हुए कहा है- 'योगश्चित्त वृत्ति संशोधः' यह संशोधन कैसे हो सकता है ? उसके लिए आचार्य देव ने दिशा दी, जो उनकी विशिष्ट देन हैं । यह देन है- समीक्षण ध्यान-पद्धति । यही तनाव

से मुक्ति और दुःख से मुक्ति की चिकित्सा है। किन्तु हम दुःख से, तनाव से मुक्त होना चाहें तब न ? कौन होना चाहता है, समय किसे है ? आज डॉक्टर्स तो बहुत हैं पर रोगी निदान ही न चाहे, रोग दूर करना ही न चाहे तो डॉक्टर का क्या दोष ? गौतम स्वामी प्रभु महावीर से कहते हैं- आप जैसे चिकित्सक के रहते जीव संत्रास पा रहे हैं। अब बताइये भगवान् क्या करेंगे ? हम तो तनाव झेलने के आदी हो चुके हैं। तनाव के बिना हमें कुछ अच्छा नहीं लगता। जैसे किसी व्यक्ति का बी.पी. निरन्तर २०० रहता हो और वह उसका आदी हो चुका है और यदि सहसा उसका बी.पी. १४० पर आ जाये तो उसे हार्ट अटैक हो सकता है। लोग सोचेंगे कि ऐसा कैसे हो गया। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि निरन्तर का स्वभाव पड़ा हुआ था। ऐसी ही स्थिति तनाव के साथ भी है। कोई तनाव से हल्का होना ही न चाहे, तब बंधुओं ! ऐसी स्थिति से तो शांति नहीं मिलेगी। शांति की सच्ची चाह है तो आज नहीं तो कल, एक दिन मिल जायेगी परन्तु इसके लिए "पण्णा समिक्खए धम्मं" प्रज्ञा से समीक्षण करें, यह प्रयोग विधि है पर प्रयोग करें तो कौन करें ? यह समीक्षण ध्यान-पद्धति क्रोध, मान, माया की कुर्बानी माँगती है। यह हमें एक जीवन-पद्धति देती है पर लेने की तैयारी कहाँ हैं ? हम कुर्बानी देने को तैयार कहाँ होते हैं। हम तो लोभ-मोह से ग्रस्त, अभीष्ट सिद्धि के लिये सतत आक्रामक बने रहते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि आक्रामक भावों से चित्तवृत्तियों में सिकुड़न पैदा होती है। शांति की निष्पत्ति हेतु चित्तवृत्तियों के संधान को तथा गाँठों को खोलने को प्रमुखता देनी होगी। जब वे ग्रंथिया खुलेंगी तब शांति का प्रवाह स्वतः ही प्रवाहित होगा।

चित्तवृत्ति के संशोधन का उपाय क्या है ? प्रभु महावीर से गौतम स्वामी ने ऐसे संशोधन का उपाय पूछा ? जिससे व्यक्ति शांत एवं सुरक्षित हो जाय। भगवान् ने कहा- उपाय है। हम भी जानते हैं कि यदि कोई रोग पैदा है तो उसका इलाज भी होता है। कोई ऐसी बीमारी नहीं है कि जिसका इलाज न हो। कैंसर के लिए कहा जाता था कि उसका इलाज नहीं

होता किन्तु यदि वह प्रारंभिक स्तर पर ही हो और ज्ञात हो जाय तो उसका भी इलाज होता है । टी.बी. का एक समय था, जब इलाज नहीं था पर आज होता है । वैसे ही हमारे दुःख और तनाव का इलाज है । जब तक तनाव है, तब तक बीमारी भी है । यदि हम 'अटेन्शन' हो जाय तो टेन्शन दूर हो जायें अर्थात् यदि बीमारी है किन्तु हम सजग हैं, सतर्क हैं तो निदान हो सकता है । प्रभु ने जो फार्मूला दिया है, वह है- 'संयम' अर्थात् अपने भीतर स्वयं को संयमित कर लो । संयमित कर लिया तो इच्छाओं का निरोध हो जायेगा । इच्छाओं का निरोध आवश्यक है, क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान फैलती जाती हैं । ये इच्छाएँ ही अशांति का कारण होती हैं । इच्छा, लालसा, आकांक्षा ये सारे तनाव रूपी कैंसर के कारण हैं । भगवान् ने कहा- इच्छाओं का शमन करो, इन्हें दूर करो । जीवन को संयम में प्रतिष्ठित करो ।

यहाँ हम एक बात और समझ लें । इच्छा को दूर करना संयम नहीं है, तप है । इन्द्रियों को वश में करना तप है । तप से संयम के भाव बनते हैं । संयम से इच्छाओं, कामनाओं आदि का शमन होता है । परन्तु हमनें संयम का तात्पर्य साधु जीवन ले लिया है, जब कि भगवान् ऊपरी उपचार पर नहीं जाते, वे जाते हैं- भावों की आधार शिला पर । वे देखते हैं कि किसी की भावात्मक चेतना क्या कह रही है ? ऐसा तो नहीं कि आगे-आगे दव जलता रहे और पीछे-पीछे हरा होता जाये । जैसे रजके/रिचका को बार-बार काटा जाता है, तथापि वह फिर उग आता है । इसी भाँति मेहंदी के पौधों को भी बार-बार काटा जाता है, फिर भी वे पुनः बढ़ जाते हैं । जब तक मूल पौधा सुरक्षित है, खाद-पानी मिल रहा है, तब तक वह पुनः-पुनः प्रस्फुटित होता रहेगा । क्योंकि मूल धरती में सुरक्षित है, बार-बार अंकुरित होते रहेंगे । अतः संयम की अवधारणा करो । जैसे ही संयम उत्पन्न होगा, इन्द्रियों की दौड़ सीमित हो जायेगी । जब हमारे भीतर प्रतिरोधक क्षमता पैदा होगी, तब बीमारी दूर होगी और स्वास्थ्य लाभ भी होगा । परन्तु बीमारी दूर होना एक बात है और स्वास्थ्य लाभ होना दूसरी

वात है । जरूरी नहीं कि व्यक्ति की बीमारी दूर हो गई हो तो वह स्वस्थ हो गया हो । जिसका टाईफॉइड सत्ताईस दिन में दूर हो गया हो, वह सत्ताईस दिन बाद स्वस्थ भी हो जाय, यह आवश्यक नहीं है । स्वास्थ लाभ में समय लगता है । संयम बीमारी को दूर करने वाला नहीं किन्तु स्वस्थ बनाने वाला है । वह हमारे में प्रतिरोधक क्षमता विकसित करता है । हमारा जीवन फौलादी हो तो वे रोगाणु अथवा कीटाणु आक्रमण नहीं कर पायेंगे ।

भगवान् महावीर ध्यान में खड़े थे, तभी उनके कानों में कीले ठोंक दिये गये पर प्रभु को चेतना में न कहीं पीड़ा हुई, न कष्ट हुआ । हमारे कानों में कील तो दूर, यदि इंजेक्शन भी लगे तो हम चौंक जाते हैं । बैठे हैं, किसी भाई ने सुई चुभो दी अथवा ध्यान में हैं और मच्छर डंक मार गया तो क्या स्थिति होगी ? सभी जानते हैं । हमारा जीवन भीतर से फौलादी कैसे बनता है ? वह बनता है- संयम से । चित्तवृत्ति में निरोध की क्षमता संयम कहलाती है । संयम के पैदा होने से चित्तवृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं । फिर लालसाओं एवं इच्छाओं के कीटाणु दूर होने लगते हैं, क्योंकि वहाँ उन्हें खुराक नहीं मिलती । जब कभी किसी के पेट में कीड़ा हो जाता है, तव वह कितना भी खायें, शरीर नहीं बनता क्योंकि भोजन की सारी पौष्टिकता कीड़ा खा लेता है । डॉक्टर उसके लिए दवाई देता है, कहता है कि पहले यह दवाई ले लेना, फिर भोजन करना । दवाई से कीड़ा दब जायेगा, जब वह दव जायेगा तब फिर शक्ति पैदा होगी । कीड़ा दवा के प्रभाव से शिथिल हो जाता है । संयम आ जायें तो चित्तवृत्ति के कीड़े शांत हो जायेंगे, वे निष्प्रभावी हो जायेंगे । कीड़े नहीं रहेंगे तो तनाव भी नहीं रहेगा । तव कमल के फूल की पंखुड़ियों की भाँति हमारी चित्तवृत्ति खिल जायेगी । संयम में आनंद प्राप्त होता है । भगवती सूत्र में कहा गया है- जो एक वर्ष संयमी जीवन जी लेता है, वह सर्वार्थ सिद्ध के सुख को लांघ जाता है । आपने ये वातें सुनी हैं, थोकड़े याद होंगे, पर आपने क्या कभी तुलना की कि कितना समय हो गया, पर अभी तक हम व्यंतर देव के सुख

को भी लांघ पाये हैं या नहीं ? शालीभद्र के सुख को लांघे हैं या नहीं ? यह भी नहीं लांघा तो उसे कैसे लांघ सकते हैं ? वस्तुतः संयमी जीवन हमने नहीं जीया है । हमारे भीतर यदि वह फौलादी शक्ति आ जाती तो चित्तवृत्ति में सिकुड़न नहीं होती । कीटाणु का अधिकार नहीं तो प्रफुल्लित जीवन होता है, जैसे खिला हुआ गुलाब या कमल । प्रस्फुटित कमल अत्यंत मनोरम लगता है, उसके पास कोई आ जायें तो वहाँ से हटने का मन नहीं होता ।

हम जानते हैं कि तीर्थंकर के समवशरण में बहुत दूरी तक ईति-भीति नहीं होती । वहाँ शांति बनी रहती है । वहाँ शेर और बकरी पास-पास बैठते हैं, उनके बीच वैर-भाव नहीं रहता । आज ऐसी बात करें तो लगेगा कि ये गपोड़े हैं, जैसे दूसरे ग्रंथों में होता हैं, तीर्थंकरों की महिमा बताने के लिए कल्पित विवरण हैं । पर जिनके जीवन में शांति का निर्झर बह रहा होता है, उनके पास शीतल समीर मिलती है । आपने अनुभव किया होगा कि यदि तालाब भरा हुआ है और आप उसके पास गये तो भले ही भयंकर गर्मी का मौसम हो, पर वहाँ ठंडक ही मिलेगी । ठंडक मिलती है, क्योंकि पानी के कारण वृक्षों की हवा ठंडी हो जाती है, इसलिये वहाँ ठंडक ही मिलेगी । इसी प्रकार तीर्थंकरों की निर्वैर भावना के कारण वहाँ वैर शांत रहता है । व्यक्ति बगीचे में जाता है तो उसे क्यों लगता है कि मैं स्वस्थ हो रहा हूँ ? कहा गया है- "सौ दवा और एक हवा", क्योंकि शुद्ध हवा स्वास्थ्य वर्द्धक होती है । पर आज कोई हवा खोरी करे तब न । आज तो दवा चाहिए, हवा तो गंदी हो रही है । फिर भी बगीचे में लगता है कि स्वस्थ हो रहे हैं । यह स्वस्थ होना शरीर की दृष्टि से है । अध्यात्म की स्वस्थता के लिए चित्तवृत्तियों का स्वच्छ होना आवश्यक हैं । पर हमारी चित्तवृत्तियाँ विकारों से कितनी दुषित है । वहाँ से कितनी दुर्गन्ध फैल रही है, यह भी सोचें । वह दुर्गन्ध हमारे जीवन पर आक्रमण करती हैं पर हम उसे पकड़ नहीं पाते और चाहते हैं कि शांति से जी लें । ऐसा कैसे हो सकता है ? प्रभु से फार्मूला पूछा गया तो प्रभु ने संयम

का फार्मूला बता दिया । वह फार्मूला कैसे अपनाया जाय ? सीधा सा रास्ता है- इन्द्रियों को संयमित करें । चक्षु को, श्रोत को, जिह्वा को, नाक को, त्वचा को- पाँचों इन्द्रियों को संयमित करें, फिर मन को संयमित करें, तब अपने आप आपके जीवन में शांति आ जायेगी और आनंद ही आनंद होगा । जीवन का फूल विकसित होगा । वह विकसित हो गया तो फिर जीवन का स्वतः ही संशोधन हो जायेगा ।

आत्मा का दमन तथा शमन शोधन की प्रक्रिया है, पर आज हम कितना शोधन कर पाते हैं, यह भी विचार करने की बात हैं । तनाव मुक्त होकर जीवन को कैसे सुरक्षित करें ? इस दिशा में सतत प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता है । यह कार्य कठिन भी नहीं है । गुरुदेव फरमाते हैं कि- 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।' तवे पर निरन्तर पानी डालते रहो, आग से तपा तवा कभी न कभी तो ठण्डा होगा ही, फिर तो तवे पर पानी की बूंदे भी दिखेगी । कच्चे घड़े में पानी डाला तो वह सोंखेगा, फिर भी निरन्तर डालते रहे तो एक क्षण ऐसा आयेगा जब पानी उसमें ठहरेगा । पहला पानी नदी भले चूस ले, पर निरन्तर वर्षा होती रही तो एक दिन उस नदी में बाढ़ आ जायेगी । खेतों में पानी का धोरा चलाते हैं पर किसान यदि सोच लें कि इतना पानी तो मिट्टी ही सोख लेगी तो पेड़ों तक कैसे पहुँचेगा तो खेती ही नहीं हो पाती । मिट्टी कितना ही पानी सोंखले फिर भी वह संतोष करता है और फिर वह समय आता है, जब पानी पेड़ों की जड़ तक पहुँच जाता है । प्रभु महावीर ने उपाय बताया, दवा बता दी, उसका प्रयोग करना अपने पर निर्भर है । फार्मूला उपलब्ध है, काम में ले लो तो जीवन भव्य बन जायेगा ।

एक बात गंभीरता से सोचने की है, शांति की बात तो बहुत की जाती है, परन्तु शांति की चाह है किसे ? इस संबंध में एक घटना का ध्यान आ रहा है । एक बार गौतम बुद्ध के पास आनन्द पहुँचे, कहने लगे- दुनिया बहुत दुःखी है । दुःख देखा नहीं जाता । बुद्ध ने कहा- जाओ सूची तैयार कर के आओ कि किसे क्या-क्या चाहिये ? आनंद ने सूची बनानी

प्रारंभ की। किसी ने सम्पत्ति की इच्छा बताई, किसी ने घर की, किसी ने पुत्र की। इस प्रकार लोगों ने अनेक चीजें माँगी पर किसी ने यह नहीं कहा कि उसे शांति चाहिये। तब बुद्ध ने कहा- शांति की चाह तो ऊपरी नारा है। वस्तुतः भीतर की शांति की किसी को चाह नहीं है। आचार्य देव ने भी शांति प्राप्ति का मार्ग बताया है। यदि उस पर गमन करें तो जीवन अशांत नहीं रहेगा। लेकिन ऐसा तब ही होगा, जब शांति की चाह वास्तव में हमारे मन में हो। परन्तु हमें तो टेन्शन में ही जीना अच्छा लग रहा है। भगवान् महावीर या आचार्य देव भले ही हमें सिद्धान्त दे दें, पर क्रियान्विति के बिना वे हमें सुखी नहीं बनायेंगे। चलना तो हमें ही होगा। इसलिये समय है कि अभी भी चेतें। 'बीती ताहि बिसार दे' के अनुसार यह सोच लें कि जो समय गया, वह तो गया किन्तु जो शेष है, उसका सदुपयोग कर लें और संयम के मार्ग पर आगे बढ़ना प्रारंभ कर दें। इससे जीवन सुखी तो होगा ही, शांति भी मिलेगी और भव-बंधन से मुक्ति का मार्ग भी खुलेगा।

दिनांक : २५.१२.१९९९, कानोड़

४. पुढवी समे मुणी हविज्जा

मनुष्य की दृष्टि से विचार करें तो जैसा मानव चोला आम मनुष्य को प्राप्त है, वैसा ही साधु को भी प्राप्त होता है। दोनों में अंतर हम उनके द्वारा पहनी गई पोशाक के आधार पर करते हैं। परन्तु पोशाक तो बाह्य आवरण होती है, जो भिन्न-भिन्न देशों और धर्मों के आधार पर बदलती रहती है। फिर पोशाक के आधार पर छल-प्रपंच की रचना भी की जा सकती है। अतः उसी को आधार बना कर आम मनुष्य और साधु में अंतर करना उचित नहीं है। तब यह जानने की इच्छा होती है कि मुनि की पहचान कैसे करें ? ऐसी ही इच्छा से प्रेरित होकर एक बार गणधर गौतमस्वामी ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया था- 'प्रभो ! मुनि जीवन महान् है। इस मुनि जीवन में आने वाले की पहचान क्या होनी चाहिये ? क्योंकि पोशाक तो ऊपरी वस्तु होती है, जो बदली जा सकती है, अतः वह मुनि जीवन की पहचान नहीं हो सकती।' प्रश्न में निहित गूढ़ अर्थ को समझ कर प्रभु महावीर ने गौतम स्वामी की जिज्ञासा का समाधान करते हुए उत्तर दिया था- गौतम ! 'पुढवी समे मुणी हविज्जा' अर्थात् मुनि को पृथ्वी के समान होना चाहिए। पृथ्वी के समान होने से क्या तात्पर्य है ? क्या पृथ्वी के समान जड़ हो जाय ? कठोर हो जाय ? चट्टान पर बहुत पानी गिरता है, पर वह अपने भीतर एक बूंद भी नहीं जाने देती, सारा पानी बह कर चला जाता है। तो क्या साधु भी वैसी ही चट्टान या मगसेलिया पत्थर बन जाय ? मुनि का पृथ्वी के समान होना क्या तात्पर्य रखता है ? प्रभु के कथन में जो मर्म छिपा हुआ है, उसे हमें समझना होगा, क्योंकि यह एक बहुत ही गंभीर सूत्र है। हल्के-फुल्के रूप में हम उसका चाहे जो अर्थ ग्रहण कर लें, परन्तु मुनि जीवन की पहचान कराने में वह सक्षम नहीं होगा। वह सूत्र

किसी सीमा तक प्रतीकात्मक भी है । अतः प्रभु के भाव को समझने के लिये उस प्रतीक को गहराई से समझना आवश्यक है ।

पृथ्वी अचल होती है, उस अचलता का प्रतीक मुनि को बताया गया है । भाव यह है कि भले ही काम, क्रोध आदि की तेज हवा बहे, विषयों के आकर्षण सामने आये अथवा भौतिक चकाचौंध का मायाजाल सम्मुख हो, पर ऐसी स्थितियों में भी मुनि को अपने आपको अविचलित रखना चाहिये । साधु जीवन अथवा मुनि धर्म ग्रहण करने की अभिलाषा जोर-जबरदस्ती का परिणाम नहीं होती । वह तो पूर्व जन्म के पुण्य, इस जन्म के पवित्र चरित्र और उत्कट मनोकामना के सम्मिलित फल के रूप में उत्पन्न होती है । इसीलिये सदा ही ऐसा हुआ कि जब भी भव्यात्माएँ प्रभु के पास पहुँची, निवेदन किया- भगवन् ! मैं साधु बनना चाहता हूँ, प्रभु ने उत्तर दिया- "अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह"- हे देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, यह नहीं कहा कि आ जा, झट दीक्षा ले लें । कहा- जैसा सुख हो । यदि तुम्हें साधु जीवन में सुख की अनुभूति होती है तो विलम्ब नहीं करना । इस संबंध में "एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध" की बात कही जाती है, पर प्रभु महावीर ने कहा- घड़ी आधी घड़ी नहीं किन्तु 'समयं गोयम मा पमायए ।' हम एक घड़ी की बात कहते हैं, पर किसने देखी एक घड़ी ? एक श्वाँस लिया, अगला श्वाँस ले पायेंगे या नहीं, क्या है यह भरोसा ? भरोसा नहीं है परन्तु मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह वर्षों की और कई बार पीढ़ियों की योजना बनाता है । मकान बनवाते समय देखता है कि नींव मजबूत है या नहीं । सोचता है कि मजबूत ईंट-पत्थर हो ताकि लम्बे समय तक मकान हिले नहीं । वहाँ तो विचार रहता है कि नींव गहरी हो, मजबूत हो पर जव धर्म की बात आती है तब नहीं सोचता कि उसके हृदय में धर्म की नींव और धर्म में आस्था कितनी गहरी है । आज जिस प्रकार का वातावरण है, उसमें जीवन कितना सुरक्षित है, हम सभी जानते हैं । जब कहीं अनुशासन ही नहीं है तो जीवन की ऐसी ही दशा बनेगी और इस संदर्भ में कवि आनन्दघनजी की प्रार्थना पर विचार करें । वे कह रहे

हैं- 'पंथड़ो निहालू रे, बीजा जिन तणो रे ।' बहुत मर्म की बात है- जे ते जीत्यो, ते मुझ जीतियो रे । अजितनाथ भगवान् आप तो अजित हो गए । कैसे हो गए ? जितने भी काम, क्रोध, मद, मत्सर जैसे विकार हैं, उन सब पर विजय प्राप्त कर आपने अपना झंडा फहरा दिया, उन्हें पराजित कर दिया । किन्तु कहा जाता है- 'हारा हुआ जुँआरी दुगुना दाँव खेलता हैं और बुझता हुआ दीपक जोर से टिमटिमाता है ।' उसी प्रकार आपसे जो हार चुके, वे आपका तो कुछ बिगाड़ नहीं सके । पर वे सारे के सारे शत्रु मुझ पर आक्रमण कर रहे हैं । 'जे ते जीत्यो' जिनको तुमने जीत लिया 'ते मुझ जीतियो', वे मुझे जीत रहे हैं । काम, क्रोध आदि की वे पराजित भावनाएँ मुझ पर हावी हो रही है । उन्होंने मुझे हताश कर दिया है । उनसे संघर्ष करने की मुझमें ताकत नहीं रही है । मैं पुरुष कहलाता हूँ पर मेरा पौरुष व्यर्थ जा रहा है । शत्रु मुझे पछाड़ रहे हैं और में बेबस हूँ । कई साधु वेशधारी भी उससे बचे हुए नहीं है । इसलिये गणधर गौतम की जिज्ञासा के समाधान हेतु भगवान् महावीर ने मुनि जीवन की पहचान के लिए उत्तर दिया- 'पुढवी समे मुणी हविज्जा'। इस कथन के पीछे बहुत बड़ा भाव छिपा है । भाव है पृथ्वी के समान अविचल बनना तथा पृथ्वी के समान ही सहनशील बनना । समय कभी बता कर नहीं आता । बुरा समय आने पर यदि व्यक्ति के भीतर सहनशीलता नहीं हो तो वह परिस्थितियों के प्रवाह में बह जाता है और उसका मार्गदर्शन करने वाले सह अस्तित्व, सहिष्णुता, समता जैसे सिद्धान्त किताबों के भीतर दबे रह जाते हैं । हम समतावादी, समताधारी आदि होने की कोरी बातें करते रह जाते हैं, परन्तु धरती पर इनका अस्तित्व प्रमाणित नहीं कर पाते । ये सिद्धान्त आकाशकुसुम बने रह जाते हैं । यदि ये सिद्धान्त जीवन से चले गये तो जीवन टिक नहीं पायेगा । इसीलिये कहा- पृथ्वी के समान मुनि हो अर्थात् उसके भीतर भी सहअस्तित्व, समता, सहिष्णुता आदि उन गुणों का निवास है, जो पृथ्वी के गुण हैं । यदि स्व का अस्तित्व सुरक्षित रखना चाहते हो तो दूसरों का अस्तित्व भी स्वीकार करो । सहअस्तित्व, सहिष्णुता, समता के बिना मुनि जीवन में अहिंसा सम्यक्त्व आदि गुणों की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

आज तो अहिंसा सम्यक्त्व आदि की बात ही क्या करे, रहन-सहन, खान-पान कितना बिगड़ रहा है । आज पिता पुत्र से कुछ कहते भी घबराता है, हाँ पुत्र, अपनी मनचाही पिता से कह सकता है । आज माता-पिता कहते हुए सुने जाते हैं- बच्चे धर्म-ध्यान में नहीं लगते । संत कह दें- बच्चों से कहा करो तो उत्तर मिलेगा- बाबू तो कहने में नहीं है । यह डूंगला की बात नहीं किन्तु सामान्य जीवन की बात है । यहाँ तो देखा- सुबह-शाम बराबर आते हैं, प्रेरणा की भी जरूरत नहीं । यह धर्म क्षेत्र है, परन्तु अन्य कई स्थानों पर यह देखने में आता है कि माता-पिता पुत्र को कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं है । पुत्र कितनी भी बातें कहें, वे सुन लेते हैं । सहिष्णुता, समता जैसे गुण समाप्त हो गये हैं ।

इस संदर्भ में एक प्रसंग पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा । आचार्य भगवन् महाराष्ट्र में विचरण कर रहे थे । एक छोटे गाँव में एक दिन रुकने के बाद विहार का अवसर था । साथ में गाँव के भाई भी पहुँचाने आये थे । एक भाई ने रास्ते चलते हुए लगभग १५ वर्ष के एक लड़के के लिए कहा- महाराज ! इसे साधु बना दो । आचार्य भगवन् ने सोचा- जहाँ साधु-सन्तों का आना-जाना रहता हो, वहाँ की बात अलग है, किन्तु जहाँ भूले-भटके, दो-चार साल में कभी साधु का सम्पर्क मिल पाता हो, वहाँ दीक्षा की भावना जग जाय, यह अनोखी बात है । वहाँ के लोग जानते ही नहीं कि साधु-जीवन क्या होता है, ऐसा ही एक अन्य प्रसंग है । रावटी से आगे आचार्य भगवन् का विहार हो रहा था । विहार ज्यादा लम्बा था, आहार-पानी का भी पूरा योग नहीं था । जानकारी की गई कि रास्ते में आस-पास कोई गाँव है क्या, मालूम हुआ कि सड़क से लगभग तीन कि.मी. अन्दर एक गाँव है, जहाँ जैनों के चार-पाँच घर हैं । आचार्य देव ने विचार किया- जैनों के घर भी हैं, जाने से कुछ आहार-पानी की जोगवाई हो सकती है, जो आवश्यक भी थी क्योंकि साथ में छोटे संत भी थे । वहाँ गये तो जैन भाई आश्चर्य करने लगे- ये कौन आ गये ! क्योंकि वहाँ कभी संतों का आगमन हुआ ही नहीं था । आचार्य भगवन् वहाँ चबूतरे पर

विराज गये । लोगों को लगा जैसे कोई सर्कस या नाटक आया है, वे देखने के लिये आने लगे । जब उन्हें मालूम पड़ा ये जैन मुनि हैं तो एक जैन भाई आचार्य भगवन् से पूछने लगा- आप कितनी मूर्ति हैं ? उत्तर मिला- हम सात जने हैं । तब उसने पूछा- आपके लिए चाय-नाश्ता बनवाऊँ या सीधी रसोई तैयार करवाऊँ ? जरा सोचिये कि यह कौन पूछ रहा था ? जैन थे, पर जानते नहीं थे कि जैनत्त्व क्या होता है । जैनियों की साधुचर्या कैसी होती है, बस सुन रखा था कि हमारा परिवार जैन हैं । आचार्य देव ने कहा- हमारे लिए बनाया हुआ काम नहीं आता । जानकारी करने से ज्ञात हुआ कि वहाँ सुथारों के तीन सौ घर हैं । उन्हें आचार्य देव ने कथा-कहानी के प्रसंग से जैन मुनि का बोध दिया । सरपंच आदि भी उपस्थित थे, उनसे कहा- यदि तुम्हारें घरों में दूध-छाछ के बर्तनों को धोया हुआ/प्रासुक पानी आदि हो तो काम में आ सकता है । वे कहने लगे- यह तो बहुत है । फिर गवेषणा के लिए संत कई घरों में घूमे तो छाछ, पानी की गुंजाईश हो गई । कहने का मतलब है कि जहाँ जैन मुनि की पहचान नहीं, वहाँ दीक्षा की बात अनोखी लगी । अतः आचार्य देव ने पूछा- आप इसे साधु क्यों बनाना चाहते हैं ? वे कहने लगे- यह बहुत उद्दण्ड है । पन्द्रह वर्ष का छोकरा है, पर जिस समय उत्तेजना या आवेश में आता है, धोवणा (कपड़ा धोने का एक प्रकार का लकड़ी का बना हुआ साधन) लेकर अपनी माँ को पीटने लगता है और मुझे भी । इसलिए कह रहे हैं, ले जाओ, दीक्षा दे दो । जरा सोचिये कि दीक्षा दिलाने की बात किनके संबंध में सोची जाती है । जो अच्छा टाबर है, उसे तो रोकेंगे, ये मेरे बुढ़ापे का सहारा है, कमाई करेगा । परन्तु जो धुनाई करने वाला है, उसके लिये कहेंगे इसे दीक्षा दे दो । ऐसे व्यक्ति भी कभी दीक्षा लेने के बाद सुधर जाते हैं । ऐसे अनेक उदाहरण हैं । एक उदाहरण तो अर्जुनमाली का ही है, जो ११४१ व्यक्तियों को मौत के घाट उतार चुका था । उसे भी प्रभु ने दीक्षा दी । उस समय भी कहने वाले मिले होंगे- 'भगवान् को चेलों की भूख है, हत्यारे को भी मुंडित कर दिया ।' किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी उपादान देखते हैं । उपादान तैयार

हो गया, देखा चाँवल रंधने जैसा है तो रांध दिया और छः माह में 'पुढवी समे मुणी हविज्जा' इस वाक्य को जीवन में ढाल दिया । कोई पत्थर मारता या कोई गाली-गलौच करता, लेकिन अर्जुन मुनि कहते- ये कितने रहम दिल हैं ! मैंने इनके परिवार के सदस्यों को मारा, पर ये इतनी सी बात से चुकारा कर रहे हैं ! प्रभु महावीर ने कहा है- परीक्षा की विकट स्थितियाँ आयेंगी । कोई जय-जयकार करने वाले मिलेंगे तो कोई कर्ण कटु शब्द कहने वाले भी मिलेंगे । ऐसे समय में हमारे भीतर उफान नहीं आना चाहिए, जैसे दूध में आता है । उफान तब नहीं आयेगा, जब नीचे आग न हो । नीचे आग सुलग रही है तो उफान को नहीं रोक सकेंगे । भले ही उपर से छींटे डालते रहो और चाहो कि उफान न आये पर इस प्रकार उफान को रोकना संभव नहीं होगा । पानी के छींटे डालने से एक बार तो उफान शांत हो जायेगा, लेकिन छींटे जले नहीं कि फिर उफान आयेगा और सावधानी नहीं रही तो दूध बाहर आ जायेगा । प्रभु कह रहे हैं- उफान आता रहा और बीच-बीच में छींटे डालते रहे, इससे भला नहीं होगा, उफान का आना बंद नहीं होगा । इसके लिये पहले कारण अथवा बीजों को नष्ट करना होगा ।

भगवान् ने उन बीजों को हटा कर क्षमता प्राप्त कर ली थी, भले ही उन्हें भयंकर परिषह सहने पड़े हों । इसके बाद जब उन्होंने अपनी जय यात्रा का बिगुल बजाया, तब कहीं कोई शत्रु टिक नहीं पाये । महाभारत का प्रसंग है कि कृष्ण जब पांचजन्य शंख का नाद करते तो शत्रु सेना के पैर उखड़ जाते । वैसे ही यदि समता की जय यात्रा के लिए संयम जन्य शंख की ध्वनि निकले तो काम, क्रोध रूपी शत्रु आत्मा के निकट टिक नहीं पायेंगे, दूर से ही पलायन कर जायेंगे । इसलिये सतत कदम बढ़ाने में सक्षम बनो । जैसा कि वेदों में कहा गया है- 'चरैवेति-चरैवेति' चलते चलो, चलते चलो, मुड़ने की जरूरत नहीं, यदि मुड़े और पीछे देखा कि मेरे परिवार का क्या होगा तो संयम जीवन में अविचल नहीं रह पाओगे, पैर लड़ खड़ाएंगे, दिल दहलेगा । परिवार का ममत्व रोकेगा । कभी अपने गाँव में चले गए

तो गाँव वाले आकर कहेंगे, आप यहाँ उपदेश देंगे, चंदा इकट्ठा करवा देंगे तो यहाँ धर्मस्थान बन जायेगा । परन्तु यदि ऐसा करेंगे तो पृथ्वीकाय की हिंसा में सहयोगी बनेंगे । धर्मस्थान, औषाधालय आदि अपने-अपने स्तर के कार्य हैं । कोई कहे इनसे भी तो पुण्य होता है । ये पुण्य के कार्य हो सकते हैं पर साधु को इन प्रपंचों में नहीं पड़ना चाहिए । यदि जौहरी से कहें- कुंजड़े की साग-भाजी की दुकान संभाल लो, समय तो वहाँ भी इतना ही लगेगा तो क्या जौहरी अपने धंधे में जितना कमा पाता था, उतना कुंजड़े के धंधे में कमा पायेगा ? जिन्होंने साधु जीवन स्वीकार किया है, उन्होंने छः काय के जीवों की हिंसा नहीं करूँगा, नहीं करवाऊँगा, करने वाले को भला नहीं समझूँगा । अतः उसे आरम्भ जनित कार्यों में भाग ही नहीं लेना चाहिये । ये प्रतिज्ञा उन्होंने दबाव में नहीं, स्वेच्छा से ग्रहण की हैं । उन्हें सचेत किया जाता है, देखो कचावट हो तो अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है । पूज्य गुरुदेव तो जब दीक्षार्थी तैयार होकर आ जाता, तब भी कहते- भाई मन को टटोल लो, अभी भी कुछ नहीं हुआ है । क्योंकि अनुराग रह गया तो दीक्षा लेने के बाद साधु जीवन की मिट्टी पलीत करोगे । इससे अच्छा है, अपनी क्षमता के अनुरूप श्रावक जीवन का निर्वाह कर अपने कर्तव्य का पालन करो ।

प्रभु महावीर के पास भाई पहुँचते- भगवन् ! हम सक्षम नहीं हैं, साधु जीवन अंगीकार कर सकें, इतनी हममें दृढ़ता नहीं है । प्रभु ने कहा- कोई बात नहीं, दूसरा मार्ग भी है । पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत भी हैं, अपनी क्षमता को तोल कर बढ़ो । अपने मन को, वचन को, काया को तोलो और फिर कोई व्रत स्वीकार करो । देखादेखी करने की जरूरत नहीं, परन्तु ली गई प्रतिज्ञा पर अटल रहना आवश्यक है । ऐसी कोई प्रतिज्ञा हम किसी दूसरे के लिए नहीं, आत्म-कल्याण के भाव से स्वीकार करते हैं । आत्म-कल्याण की बात पहले है, अन्य बातें गौण हैं । आवश्यकता इस बात की है कि त्याग के प्रति बहुमान बना रहे । स्थानांग सूत्र में कहा गया है- सिंह की तरह साधु जीवन स्वीकार किया है तो उसी

तरह पार पहुँचायें, यह कसौटी है, वैराग्य भावना की। इसी के धरातल पर साधु जीवन सुरक्षित रह सकता है, नहीं तो स्वयं का जीवन तो डुबाते ही हैं, दूसरों को भी डुबाते हैं। प्रभु महावीर की संस्कृति को सुरक्षित रखें, यह साधुचर्या की प्रथम शर्त हैं। प्रभु महावीर का यह बेड़ा (जहाज) पत्थर का नहीं, लकड़ी का है। यह बेड़ा तिराने वाला है, यह समझना भी आवश्यक है।

तब मुख्य बात वैराग्य भावना की उत्कटता की है, जब साधु जीवन का आदर्श मन को अनुप्राणित एवं प्रेरित करता है, तब ही वैराग्य का वृक्ष फलता-फूलता है। साधु-संतों के व्याख्यान इसमें सहायक होते हैं। यही कारण है कि समृद्ध परिवारों की संतानें भी इस दिशा में अग्रसर होती हैं। ऐसे परिवारों के सामने भौतिक जीवन की कोई समस्या नहीं होती। समस्या होती है- मनोवैज्ञानिक भौतिक सुख की निस्सारता से मुक्त होकर साधु जीवन के चरम सुख की प्राप्ति की कामना। यह स्पष्ट है कि रोटी के लिए घर नहीं छोड़ा जाता। ऐसे भी परिवार जैन समाज में हैं, जो दिन भर मेहनत करके दो जून रोटी का जुगाड़ भी नहीं कर पाते। कभी तो भूखे पेट भी सोना पड़ता है, लेकिन वैराग्य भावना नहीं होती। जब तक मोह-माया तिरोहित न हो जाये, तब तक वैराग्य भाव नहीं जगते।

थारी मोह माया ने छोड़, क्रोध ने तज रे।
थारी उमर बीती जाय, प्रभु ने भज रे ॥

क्रोध का मोह-माया से गहरा संबंध है। क्रोध को आग कहा गया है। यह रहेगी तो हमारे भीतर अहं का उफान भी आयेगा। क्रोध शांत हो जाय तो अहं का उफान नहीं आयेगा। अहं को उफनने के लिए क्रोध का सहारा चाहिये। इसलिए प्रभु कहते हैं- 'पृथ्वी के समान सहनशील बनो।' कोई चाहे क्रोध को भड़काने के लिए आग लगा दे लेकिन वह भड़के नहीं, ऐसी प्रकृति होनी चाहिये। लेकिन यह शांत भाव न विवेक रहित होना चाहिये, न भय से उत्पन्न। क्रोध और कायरता नहीं बल्कि सहनशीलता

संतों का प्रमुख गुण होता है और ये ही गुण वैराग्य भाव को पुष्ट करते हैं। इसीलिये साधु-संत बीहड़ अनजान और आतंकग्रस्त क्षेत्रों में भी निर्भय होकर विचरण कर सकते हैं। एक उदाहरण लें- गीदम, सुखमा ऐसे ही क्षेत्र हैं, जहाँ वर्षों तक साधु-संतों का आगमन नहीं हुआ था, परन्तु साहसी वीरांगना महासती श्री ताराकंवरजी म.सा. आदि ने विचरण किया। भाई कहते हैं कि उस मार्ग से गाड़ी से भी जाते हैं तो दिल कांपता है, न जाने अगले क्षण क्या हो ? लेकिन वे उमंग पूर्वक ३०-४० कि.मी. का विहार कर जहाँ अन्न-पानी की भी जोगवाई नहीं थी, वहाँ पहुँची। उधर मारवाड़ी भाई भी वर्षों से रहते हैं किन्तु यह भी नहीं जानते थे कि नवकार-मंत्र क्या है ? वे केवल यह जानते थे कि वे जैन हैं। उन आदिवासी क्षेत्रों में वे पहुँची और धर्म-प्रभावना की। संघ के कार्यकर्ताओं ने भी देखा कि अवसर है, अतः साधुमार्गी संघ के अधिवेशन प्रसंग पर मैंने जब व्यसन मुक्ति की बात रखी, तब उन्होंने आंदोलन चालू किया और उसके माध्यम से २४,००० संकल्प पत्र भराये, उनमें आदिवासी और स्कूल के छात्र भी हैं। वे भाई तो छोड़ रहे हैं पर ऊँची कौम के कहलाने वालों को भी इस स्थिति में गंभीरता से विचार करना चाहिये अन्यथा आने वाले समय में आपके चूल्हे, फ्रिज तक अखाद्य चीजें आ सकती है। फिर हम शुद्ध भिक्षा भी कहाँ से ग्रहण करेंगे ? इस संबंध में समाज के सभी बन्धुओं को चिन्तन करने की आवश्यकता है। पास के घर में यदि आग लगी है तो आप कब तक सुरक्षित रहेंगे ? कुव्यसनों तथा अखाद्य पदार्थों का सेवन ऐसी ही आग है, जो न जाने कौन से क्षण हमें भी अपनी चपेट में ले ले। इस आग को सुसंस्कारों, सद्विचारों एवं धर्म-भावनाओं द्वारा ही रोका जा सकता है, अतः हम इन्हें त्वरित गति से अपनाने का प्रयत्न करें। आज की यह प्रमुख आवश्यकता है। इस प्रकार जो वातावरण बनता है, वह परम कल्याणकारी होता है और एक के साथ अनेक का हित करता है, जैसा श्री सम्पतमुनिजी म.सा. के साथ हुआ था। उन्होंने प्रतिज्ञा ली थी कि आचार्य श्री जी पधारें तो मैं दीक्षा लूँगा। गुरुदेव ने पूछा- भावावेश तो

नहीं है ? उत्तर मिला- नहीं, मैं सचमुच लूँगा । गुरुदेव का पधारना हुआ और उन्होंने जैसे भाव रखे थे, वैसा ही कर दिखाया और उसके बाद तो नम्बर लग गया । छत्तीसगढ़ से दर्जनों दीक्षाएँ सम्पन्न हो गईं । ऐसी भावनाएँ भी इस कारण बनती हैं क्योंकि भीतर वैसे सुन्दर संस्कार होते हैं। ऐसे संस्कार अक्षुण्ण बनें, विकासमान बनें तथा मार्गदर्शक बनें, जिससे हम सभी ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना हेतु तत्पर बनें । किन्हीं कारणों से साधु न बन सकें तो भी कोई बात नहीं, कम से कम सच्चे श्रावक बन कर अपने कर्त्तव्य का विचार करते हुए जैन धर्म की सेवा में तत्पर बनें तथा मूल्यों की रक्षा करने के प्रति सतर्क रहें । त्याग भावों से प्रेरणा लेकर हम भी त्याग करें तथा प्रभु महावीर द्वारा निरूपित धर्मप्रज्ञप्ति से जग-जीवन को आलोकित करें । इस दृष्टि से दीक्षार्थी परिवारों का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जायेगा । वे परम सौभाग्यशाली हैं, जो ऐसी यशस्वी संतान को जन्म देते हैं, जो सात पीढ़ियाँ तारती है । सुसंस्कारों से प्रसूत ऐसे त्याग भाव, दूसरों को भी संस्कारित करते हैं तथा जीवन की मंगलमय अवस्था तक पहुँचने में सहायक बनते हैं ।

दिनांक : २७.१२.१९९९, डूंगला

५. अप्पा चेव दमे यव्वो

देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं को आत्मीय संबोधन देते हुए कहा था– 'अप्पा चेव दमे यव्वो....' अर्थात् अपनी आत्मा का दमन करो। विचारणीय यह है कि आत्मा का दमन कैसे किया जाय, क्योंकि आत्मा अरूपी है– 'णो इन्दियगेज्झ अमुत्त भावा.....।'

जो अमूर्त है, उसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते, इस स्थिति में उसका दमन किस विधि से किया जा सकता है ? जिसको हम जानते नहीं, जिसका बोध नहीं और जो प्रकट नहीं, उस आत्मा का दमन कैसे किया जाय ? अंधेरे में तीर चला कर क्या उसी में अपनी कुशलता मान ली जाय ? परन्तु यदि अंधेरे में तीर चला दियें जांय तो जब तक लक्ष्य का पता नहीं, कामयाबी कैसे मिलेगी ? आत्मा का कथन करना अथवा उपदेश देना सरल कार्य है, पर आत्मा की अनुभूति करना और आत्मा के अनुभव के आधार पर संवेदन करना बहुत कठिन है। जब तक संवेदन नहीं होगा, तब तक उसका दमन भी नहीं किया जा सकेगा और जब तक दमन नहीं होगा, तब तक वह आत्मा हमारा शत्रु बना रहेगा। इस शत्रु की स्थिति पर भी विचार करें।

गौतम स्वामी से केशी श्रमण ने पूछा– 'सत्तू य इइ के वुत्ते' आप शत्रु किसे मानते हैं ? उत्तर मिला– 'एगप्पा अजिए सत्तू', जो आत्मा अभी तक जीता नहीं गया है, जिस पर हमने अधिकार नहीं किया है, जो अपने घर में नहीं आ गया है, केवल बाहर भटक रहा है, वह शत्रु है। बाहर भटकना हमारी मानसिकता बनी हुई है। अनादि संस्कार यह बने हुए हैं कि बाहर जितना आनन्द आता है, उतना अपने घर में नहीं आता। घर में भी भोजन बनता है, कभी कचोरी या समोसा भी बन जाये पर उसमें स्वाद नहीं

आयेगा। स्वाद कहाँ हैं ? बाजार में, होटल में ? खड़े-खड़े खाना पड़े और सामग्री भले ही कच्ची, अध-सिकी हो, सफाई से तैयार भी न की गई हो पर वहाँ खाने में भी शान समझी जायेगी, स्वाद आयेगा और आनंद आयेगा। यह अपनत्व से दूर हो जाने का, पराये के प्रभाव में आ जाने का उदाहरण है। इसीलिये कहा गया है- 'पर घर फिरत बहुत दिन बीते।' जरा सोचें कि बाहर ही बाहर भटकते रहने से सुख कैसे मिल सकता है। सच्चा सुख तो घर में ही मिलता है। बाहर जो दीखता है, वह मात्र मृगमरीचिका होती है, उससे तृषा शांत नहीं हो सकती। अपने भीतर की स्थिति यदि नहीं बदलेगी तो बाह्य परिवर्तन से कुछ भी होने वाला नहीं है। यदि शरीर रोग ग्रस्त है, रोगों का घर बन गया है तो बाहर से उसका शृंगार करते रहने से उसमें सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो पायेगा। वैसी स्थिति में शृंगार तो कुरुपता की ही वृद्धि करेगा। ऊपरी लीपापोती और ऊपरी सजावट से वास्तविकता को नहीं बदला जा सकता। वैसे प्रयास तो विपद एवं हानि का कारण भी बन सकते हैं। इसलिये देखने की बात यह है कि हम अपने अंतर के सत्य को जान पा रहे हैं या नहीं। हमें अपने अस्तित्व का बोध हो रहा है या नहीं ? ऐसा तो नहीं कि पर में ही हम अपनी सारी शक्ति नष्ट कर रहे हैं। प्रभु महावीर ने कह दिया- "अप्पा चेव दमे यव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।" क्योंकि वह दुर्दमनीय है, क्योंकि उसकी समग्र पर्यायों को व्यक्ति नहीं जान पाता। अखंड द्रव्य का ज्ञान भी नहीं ? अखंड द्रव्य का ही जब ज्ञान नहीं कर पाता, तब फिर कैसे उसके समग्र पर्यायों की अनुभूति कर पायेगा ? कवि आनन्दघनजी अजितनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं-

> जे ते जीत्यो रे, ते मुझ जीतियो रे,
> पुरुष किसो मुझ नाम... पंथड़ो निहालूं...।

अजितनाथ भगवान् के पंथ को निहारना है, पर यह निहारना कैसे होगा ? चर्मचक्षुओं से ? ये चर्मचक्षु इस कार्य हेतु सक्षम नहीं हैं, इसलिये कह दिया- इनसे देखता हुआ मानव भूला है, भटका है। जब तक वह इन

चक्षुओं के आधार पर चलता रहेगा, यथार्थ को प्राप्त नहीं कर पायेगा। जब तक काम-क्रोध की ज्वाला धधक रही है और जब तक ये धधकती रहेगी, तब तक आत्मा पर हम अधिकार नहीं पर पायेंगे। आत्मा पर अधिकार से तात्पर्य स्वयं पर स्वयं का अनुशासन होने से है। आज स्वयं से हम कुछ कह नहीं पाते। प्रभु महावीर ने देखने के लिए जो कहा है, उसकी निष्पत्ति किस रूप में हो रही है, यह समझें। अभी हमारा देखना है- वहाँ क्या हो रहा है, यहाँ क्या हो रहा है ? यह तो मात्र भौतिकता को अथवा निष्पत्तियों को देखना है जो मिथ्या भी हो सकती है। इस प्रकार यदि हम बाहरी अथवा ऊपरी परिवर्तनों अथवा निष्पत्तियों को देखते रहे तो हम स्वयं को भूलते चले जायेंगे, आत्मा की अवस्था का ज्ञान भी नहीं कर पायेंगे।

ब्रह्मभूति नरेश शारीरिक व्याधि के कारण अपने आप में काफी बेचैनी का अनुभव कर रहा था। चिकित्सक आते, प्रयास करते बीमारी का इलाज तो हो सकता है, परन्तु यदि आयु ही पूर्ण होने की स्थिति में हो तो इलाज कारगर कैसे हो सकता है ? राजा ब्रह्मभूति को चिन्ता हुई कि मैं तो बच नहीं सकता पर बालक छोटा है, मेरे बाद राज्य का क्या होगा ? उसने अपने मित्र राजाओं को बुलाया और कहने लगा- मेरा बालक छोटा है, जब तक यह योग्य न हो जाय, आप सब मिलकर कुछ समय तक यहाँ का राज्य-संचालन देखना। आप लोगों को अपने राज्य की व्यवस्था भी देखनी होगी किन्तु थोड़ा समय निकाल कर यहाँ भी सुन्दर ढंग से राज्य व्यवस्था करें और जब बालक बड़ा हो जाय, तब इसे व्यवस्था सौंप दें। इस प्रकार इस राज्य की व्यवस्था कर देने के बाद राजा ब्रह्मभूति का स्वर्गवास हो गया। उसके राजा मित्रों में एक का नाम दीर्घ था। उससे कहा गया- आप सबमें बड़े हैं, इसलिये पहले आप व्यवस्था करना स्वीकार करें, फिर थोड़े-थोड़े समय जिस प्रकार भी होगा, सभी अपने-अपने दायित्व का निर्वाह करेंगे। दीर्घ राजा वहाँ आकर रहने लगा पर वह दुर्व्यसनी निकला, महारानी चुलनी से उसके अवैध संबंध हो गये। दूसरे मित्रों ने समाचार दिये तो कहने लगा- आप आयें तो ठीक, नहीं तो मैं ही संभाल लूँगा।

उधर बालक बड़ा हुआ तो उसने देखा कि दीर्घ राजा क्या कर रहा है । राजमाता हंसनी को एक कौआ ग्रहण करना चाह रहा है ! बालक ने विचार किया कि इसे इशारे से समझा दिया जाय ताकि यह यहाँ से रवाना हो जाय । उसने एक कौवे को हंसनी के साथ बिठा कर कहा- अरे काग ! तुम्हारी यह नीचता-ढीठता कि हंसनी का वरण करो ! अपने रहते मैं तुम्हें ऐसा करने नहीं दूँगा । उसने ये बातें दीर्घ को सुना कर कही, इसलिये कि दीर्घ संकेत में समझ जाय और दुश्मनी भी नहीं लेनी पड़े । दीर्घ भी जान गया कि वह क्या कहना चाहता है । परिस्थिति भाँप कर उसने चुलनी से कहा- बालक समझदार हो गया है, उसे हमारे संबंधों की वास्तविकता का ज्ञान हो गया है । उसने यह नहीं सोचा कि गलती उसकी ही थी, जो अपने दायित्व को भूल कर विलासिता के पंक में फँस गया था । भारी संकट का अनुमान कर उसने अपने राज्य में लौट जाने का निर्णय कर लिया और यह बात चुलनी से कह दी । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिस व्यक्ति के मन में कपट और दुर्वृत्तियाँ पनप जाती हैं, वह शंकाशील और भयभीत हो जाता है । कहावतें भी है- चोर के पैर कच्चे होते हैं तथा चोर की दाढ़ी में तिनका, यदि वह चोर है तो अन्य किसी का हाथ दाढ़ी पर जाये या न जाये पर उसका हाथ अपनी दाढ़ी पर तुरन्त चला जायेगा और वह प्रयास करेगा कि अपनी दाढ़ी संभाल लूँ । कोई तिनका देख न लें, अतः पहले ही तिनका हटा दूँ, नहीं तो पकड़ा जाऊँगा । यही स्थिति हमारी है । हम घर में, आत्मा में स्थित नहीं हो पाते और स्वयं को षडयंत्रकारी प्रवृति से जोड़ लेते हैं, तब आत्मा पर हमारा अधिकार नहीं रहता । ऐसी स्थिति जिस व्यक्ति के सम्मुख भी आ जाती है, वह दिग्भ्रमित हो जाता है । उसे सूझता ही नहीं कि वह क्या करें और क्या न करें । ऐसे व्यक्ति की सोचने और निर्णय लेने की क्षमता भी समाप्त हो जाती है । ऐसे दिग्भ्रमित व्यक्ति के संबंध में प्रभु महावीर कहते हैं-

अप्पा चेव दमे यव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य ।।

तूं सुख चाहता है किन्तु अपने भीतर आल-जंजाल बना रहा है। तब सुख कहाँ से मिलेगा ? दशवैकालिक सूत्र में भी कहा है- पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ। जो व्यक्ति संकल्प-विकल्पों में चला जाता है, वह साधु जीवन की आराधना भी कैसे कर सकता है ? संकल्प-विकल्पों के रहते वह साधु जीवन को सुखी बना भी नहीं सकता। साधु जीवन तो सुखी बनाने वाला होता है। कहा भी गया है- 'एगंत सुही मुणी वीयरागी।' हम जानते हैं कि जो स्वयं के भीतर सुख का अहसास नहीं कर पाता है, वह कैसे दुनियाँ को सुख शांति का संदेश दे सकेगा ? भीतर से ही जो भीगा नहीं, वह बाहर अभिव्यक्त कैसे होगा ? मटकी में यदि पानी भरा है तो बाहर से भी अनुमान किया जा सकेगा कि वह भरी है। हमारे भीतर सुख नहीं तो पास में आने-वाले को सुख हम कैसे बाँट सकेंगे ? बाँटना है तो संकल्पों-विकल्पों को तज कर, आत्मा में स्थित होना होगा। जबकि सत्य यह है- 'एगप्पा अजिए सत्तू' आत्मा को हमने जीता नहीं है।

दीर्घ ने कहा था- बालक समझदार हो गया है, अब मैं नहीं रह सकता। महारानी चुलनी तो स्वयं मूढ़ावस्था में थी। उसका उचित-अनुचित का विवेक ही समाप्त हो चुका था। अतः उसने कहा- मैं प्रयत्न करूँगी कि बाँस ही न रहे तो बांसुरी बजेगी कैसे। उन्होंने उससे छुटकारा पाने की एक कपटपूर्ण योजना बनाई। एक जगह पुत्र का संबंध कर दिया और रात्रि में उसके शयन के लिए एक लाक्षागृह का निर्माण करवा लिया। राजकुमार वहाँ सोयेगा, यह बात एक मंत्री को ज्ञात हो गई थी। मंत्री ने अपने पुत्र से कहा- तूं राजकुमार का मित्र है, अतः सावधानी रखना। जिस राजकुमारी से राजकुमार की शादी होने वाली थी, उसके पिता से मंत्री-पुत्र ने कहा- अभी आप राजकुमारी से विवाह न कर दासी पुत्री से राजकुमार का विवाह कर दीजिये। ऐसा ही किया गया। विवाह के बाद जब लाक्षागृह में राजकुमार व उसकी पत्नी सोये हुए थे, तब महारानी ने अच्छा अवसर समझ कर लाक्षागृह में आग लगवा दी। विषय-वासना में लिप्त आत्मा को बोध कहाँ रहता है, वह तो अपने विषयों की पूर्ति के लिये तत्पर थी, उसने

यह नहीं देखा कि उसका स्वयं का पुत्र था । मंत्री-पुत्र राजकुमार के मित्र ने पहले से ही नगर के बाहर से लेकर लाक्षागृह तक सुरंग खुदवा ली थी । जैसे ही महारानी ने आग लगवाई, वह मित्र अंदर जा पहुँचा और राजकुमार को जगाने लगा । राजकुमार ने पूछा- बात क्या है ? उसने कहा- बोलो मत और हाथ पकड़ कर वह राजकुमार को बाहर निकाल लाया । बाहर आकर उसने राजकुमार को सारी बात बता दी । आगे की कथा लंबी है परन्तु भाव आप समझ गये होंगे । कवि ने भी कहा है- 'जे ते जीत्यो रे, ते मुझ जीतियो रे ।' प्रभु ! आपने जिन्हें जीत लिया है, वे हारे हुए शत्रु मुझ पर इस कदर हावी हो गए हैं कि मैं जी नहीं पा रहा हूँ और स्वयं को असहाय महसूस कर रहा हूँ । चुलनी, दीर्घ ब्रह्मदत्त और उसका मित्र कथा के पात्र हैं । इस कथा के सार को भी हम समझें । ब्रह्मदत्त आत्मा का और उसका मित्र ज्ञान का प्रतीक है । यहाँ चुलनी मिथ्यात्व मोहनीय का प्रतीक है, जो आत्मा के साथ लगी है । जिसके लगे रहने से अज्ञानरूपी दीर्घ क्रोध से फुफकार मारता है । आत्मा से वे जब तक दूर न हो जाय, तब तक आत्मा को बोध प्राप्त नहीं हो सकता । ऊपर से भले ही कितनी भी कोशिश करें ।

कभी पूछा जाता है- क्रोध कहाँ से आ जाता है, पता ही नहीं चलता और क्रोध आ जाता है । कभी निमित्त बाहर का मिलता है, कभी निमित्त के बिना भी आ सकता है । व्यक्ति बैठा है, बैठे-बैठे गुस्सा आ जाता है, कोई कारण उस समय मौजूद नहीं होता, बस संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं । निरन्तर चक्की चलती रहती है, क्या पीस रहे हैं, पता नहीं । अनाज पीस रहे हैं, घुन पीस रहे हैं या स्वयं को पीस रहे हैं, पता नहीं पर निरन्तर मन की चक्की चला रहे हैं । अब तक स्वयं को कितना पीस चुके हैं, पता नहीं रहता । जबकि अनादि काल से उसी में हैं, फिर भी आत्मा का बोध नहीं हो रहा है । वस्तु स्थिति यह है कि अज्ञान-रूपी दीर्घ बैठा है, वह आत्मा का बोध होने नहीं देगा । वह मिथ्यात्व-मोहनीय आगे से आगे जाल बुनता जाता है और आत्मा को विषय-वासना की बेड़ियों में डाले

रखता हैं, वैसे ही जैसे चुलनी ने अपने पुत्र को विषयों में आबद्ध कर जलाने का उपक्रम किया था । इसी प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीय की अवस्था निरन्तर आत्मा को जकड़ती रहती है । क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि भिन्न-भिन्न रूप की लपटें हैं, जो आत्मा को झुलसाती हैं । क्रोध को अग्नि कहा गया है- 'कोहो य माणो य अणिग्गहिया', ऐसे क्रोध और मान को निग्रहित नहीं किया गया तो वह मिथ्यात्व-मोहनीय का पोषण करता है और हमें अपने इशारे पर चलाता हैं । जिसमें अज्ञान है, उस पर ये सारे शत्रु हावी हो जाते हैं पर जैसे राजकुमार का मित्र उसे सुरंग से निकाल कर बचाने में सहायक हुआ था, वैसे ही हमारे भीतर भी जब ज्ञान-किरण का प्रकटीकरण होता है, तब ज्ञान आत्मा का साथी बन जाता है, फिर वह काम, क्रोध, विषय-वासना अज्ञान आदि की आग से अपने मित्र चैतन्य देव को बाहर निकाल कर क्षपकश्रेणी की सुरंग से आगे बढ़ मुक्तिपुरी के शाश्वत राज्य की ओर प्रयाण कराता है, वही सिद्ध स्वरूप में अवस्थित कराने वाला होता है । खेद का विषय है कि हम केवल कथा से चिपके रहते हैं, उससे आमोद-प्रमोद कर लेते हैं, प्रश्न करते रहते हैं कि कैसे कर दिया, वह कैसे कर दिया ? परन्तु तत्त्व की बात को समझ नहीं पाते । अरे भाई ! किसने क्या कर दिया, यह मत देखो । देखो यह कि अपने भीतर ही ये सारे पात्र रहे हुए हैं, इन्हें अन्यत्र दुनियाँ में ढूँढ़ने या देखने से कोई लाभ नहीं ।

कई बार कहा जाता है कि जैनियों की संख्या कम रह गई है पर क्या यह भी सोचा जाता है कि जो संख्या है, वह सम्पूर्ण भी जैन कहलाने की अधिकारिणी नहीं है । अधिकारिणी है ? जैनत्व के नाम पर ढोंग या धोखा भी तो कहीं नहीं हो रहा है ? जैन किसे कहते हैं, परिभाषा क्या है- जैन की ? यह भी गहराई से समझें । इस संदर्भ में एक घटना का जिक्र करना उचित होगा । आचार्य विनोबा भावे महू अधिवेशन में गये थे । उन्हें ज्ञात हुआ कि इन्दौर में शांत-क्रांति के अग्रदूत आचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. विराज रहे हैं, जो युगद्रष्टा ज्योतिर्धर आचार्य

श्री जवाहरलालजी म.सा. के उत्तराधिकारी है । आचार्य जवाहर ने ग्राम धर्म, राष्ट्र धर्म पर खुली विवेचना दी है । विनोबाजी भी आचार्य भगवन् के दर्शनार्थ इन्दौर पहुँचे । पूज्य गुरुदेव (आचार्य श्री नानालालजी म.सा.) उस समय आचार्य भगवन् (स्व. श्री गणेशाचार्य) के उपपात में बैठे थे । विनोबा भावे कहने लगे- महाराज श्री ! आज कहा जाता है कि जैनों की संख्या कम है । जैन धर्म अंगीकार करने वाला भले ही कम हों किन्तु जैन दर्शन के सिद्धान्त विश्व दर्शन में दूध में मिश्री की तरह घुले हुए हैं । उन्हें निकाल पाना कठिन है । किन्तु जो जैन धर्म के अनुयायी हैं, वे यदि मक्कम रहें तो उनकी दुनियाँ में अलग पहचान बन सकती है । आचार्य भावे की टिप्पणी कितनी अर्थ पूर्ण है, इसे समझें । महिमा संख्या की नहीं, गुणवत्ता की होती हैं । सौ कौरवों पर पाँच पाण्डव भारी थे । संस्कृत की एक उक्ति के अनुसार भी एक गुणी पुत्र सौ मूर्ख पुत्रों से श्रेष्ठ है, एक अकेला चंद्र अंधकार को दूर कर देने में सक्षम होता है, हजारों तारें भी इसमें सक्षम नहीं होते । संगठन अथवा संख्या के आधार पर जैन लोग राजनीति में भले सफल हो जाय किन्तु गुणवत्ता का आधार यदि हट गया तो टूटन पैदा हो जायेगी । इसी प्रकार संख्या के आधार पर जैन चार लाख क्या चार करोड़ हो जाय, उससे होना क्या है ? हम सोचें कि आज समाज में टूटन क्यों हो रही है ? कारण यह है कि गुणवत्ता की नहीं, पैसे की कदर हो रही है । आज कई धर्मसंघों के अध्यक्ष भी ऐसे हैं, जो शायद नवकार मंत्र भी नहीं जानते हों । वे यदि अधिकारी बने तो धर्म के लिये क्या कर पायेंगे ? वे संस्थाओं में धर्म को कैसे विकसित कर पायेंगे । यह सोचने की आवश्यकता है । ऊपरी तौर पर भले ही जैनिज्म की स्थिति पर वातें कर लें, बातें एकता की भी की जाती है पर एकता का धरातल भी तो होना चाहिये । नीचे आग जल रही हो अथवा वैर-वैमनस्य का वातावरण हो और ऊपर से एकता के गीत गातें रहें तो वह एकता टिकेगी नहीं । अतः हम एकता का दृढ़ आधार तलाश करें और उस पर अवस्थित हों । क्योंकि यदि वस्तु सत्य से एकता को न जी कर ऊपर से जीयेंगे तो क्या पायेंगे ? ऊपर

से भले पोषाक सजा लें, पर यह तो स्वयं को धोखा देना होगा और विषाद का कारण बनेगा, जैसा मयूर के साथ होता है, जो अपने पंखों से नाचता हुआ खुश होता है, पर जब पैरों को देखता है तो उसे रोना आता है, वैसे ही हम पोशाक से खुश हो लें पर चिन्तन में बैठेंगे तो रोना आयेगा, अतः देखें कि हमारी क्या दशा है- "हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे म्हारे खरुं ।" मैं कौन हूँ ? यदि यह बोध नहीं, आत्मा की पहचान नहीं तो पहले पहचान करें, क्योंकि ऊपर की पहचान से कुछ भी सिद्ध नहीं होना है, उससे हम उसूलों को सिद्ध नहीं कर पायेंगे । ऊपरी पहचान नहीं, सच्चा जैनिज्म सुरक्षित रखें ।

कवि आनन्दघनजी की प्रार्थना की कडियों के माध्यम से विषय की गंभीरता को समझें- भगवन् ! आपने जिन शत्रुओं को हराया, वे हमें हरा रहे हैं । हम जानते हैं कि कीटाणु यदि वृक्ष पर लग जाते हैं तो उसे भीतर ही भीतर खोखला कर देते हैं । अलमारी की दराज में दीमक लग जाती है तो उसे भीतर ही भीतर खोखला करती रहती है और फिर उसे धराशायी होने में देर नहीं लगती ।

भगवान् महावीर के पास हस्तीपाल नरेश पहुँचा और कहने लगा- भगवन् ! मैंने जो स्वप्न देखे हैं, उनमें एक स्वप्न था- सिंह जिसकी बुलन्द आवाज से सारे वनचर भाग जाते हैं । उसके शरीर में कीड़े लग गए हैं, जिनसे वह स्वयं की सुरक्षा नहीं कर पा रहा है । भगवान् ने कहा- यह स्वप्न भविष्य दर्शन करा रहा है, जैसे सिंह की दहाड़ से वनचर भाग जाते हैं, वैसे ही अन्य मिथ्यामति, जैनिज्म की दहाड़ से भाग जाते हैं किन्तु जैनिज्म के ही अनुयायी उसके शरीर में कीड़े के रूप में लग कर शरीर को खोखला बना देंगे । जिस प्रकार सिंह उस स्थिति में कीड़ों से अपने शरीर को बचा नहीं पायेगा, वैसी ही दशा जैनिज्म की हो सकती है । जरा सोचें कि अलकबीर के डॉयरेक्टर कौन है और डालड़ा घी में चर्बी मिलाने वाले कौन हैं ? वे जैन हैं । क्या एक पवित्र एवं प्रचण्ड धर्म के शरीर पर ऐसे लोग कीटाणु की तरह नहीं हैं ? ऐसे लोगों के रहते संख्या एक करोड़ नहीं

दस करोड़ बढ़ा लो, पर क्या वह संख्या निहाल कर देगी ? इससे तो अच्छा है कि भले ही ५-१०-१०० हों पर अच्छे हों । संख्या गुणवत्ता के साथ हो । हम देख रहे हैं कि आज पद प्रतिष्ठा की बातें पहले आती हैं, गुणवत्ता पीछे रह जाती है । जहाँ आत्मा, मिथ्यात्व-मोहनीय से घिरा है, वहाँ क्या जैनिज्म टिक पायेगा ? अनंतानुवंधी चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों में सम्यक्त्व मोहनीय को छोड़कर शेष छह मौजूद है अथवा उदय में है तो जैनिज्म में कदम नहीं रखा जा सकेगा । इन प्रकृतियों के क्षय, क्षयोपशम, उपशम से जैनिज्म का जागरण होता है । जैन वंश अथवा परिवार में जन्म लेने मात्र से जरूरी नहीं कि कोई जैनी हो जाये । सोचे कि आज क्या पहचान रह गयी है जैनी होने की ? एक जमाने में रात्रि में भोजन नहीं करने वाले से पूछ लिया जाता था- क्या तुम जैन हो ? तव एक पहचान तो थी । परन्तु आज क्या पहचान रह गई है । रात्रि में जीमे वह जैन कैसा ? आज जैन भोजन माँसाहारी होटल में करते हैं या नहीं ? तब क्या कहें ? इस प्रकार दिखावे के सिद्धान्तों के मयूर पंखों को देखकर प्रसन्न हो तो वास्तविकता के पैरों को देख कर क्या रोना नहीं आयेगा ? यह स्थिति कहने की नहीं, चिन्तन की अपेक्षा रखती है । अतः कभी चिन्तन के क्षणों में शांति से विचार करें कि हम कैसे जैन हैं ? जैनत्व का वर्तन हो, यह अपेक्षित है । हम सोचें कि हमें कर्तव्य का ध्यान है या नहीं ।

आज व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा, मान, मर्यादा के पीछे क्या नहीं कर रहा है ? और इस प्रकार वह स्वयं के साथ अन्याय कर रहा है । उसे चिन्ता रहती है कि मेरी पोजीशन बनी रहे, पर क्या पोजीशन तिरा देगी ? तारणहार तो शास्त्रों में श्रमण-माहण को कहा गया है । श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक, इस दृष्टि से साधु ही नहीं श्रावक भी तिराने वाला है । तिराने वाले को तीर्थ कहा है । तीर्थ चार हैं- साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका । श्रावक के सहयोग से भी व्यक्ति तिर सकता है । तव चिन्तन करें कि तीर्थ कहलाने के कौन कितने अधिकारी हैं । इस

दिशा में अन्वेषण करें। ऊपर से चाहे बातें कितनी भी कर लें पर जब तक सही अर्थों में अन्वेषण, अनुपेक्षा नहीं होगी, तब तक लाभ भी नहीं होगा।

प्रभु ने स्वाध्याय के पाँच भेद कहे हैं- वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। अनुप्रेक्षा करेंगे, तब ही धर्मकथा के अधिकारी बनेंगे अन्यथा नहीं। पहले वाचना की बात लें। वाचना गुरु-मुख से हो। परन्तु क्या ऐसा होता है ? छापेखानों के कारण आगम सर्वसुलभ हो गये हैं और गाँव-गाँव में, घर-घर में आगम उपलब्ध है। इसे लोग अपना सौभाग्य मान सकते हैं। पर मैं कहता हूँ- यह हमारा दुर्भाग्य है। प्रकाशन जितना बढ़ा है, उतना ज्ञान नहीं। कारण यह है कि धार्मिक साहित्य का प्रकाशन और उसकी उपलब्धि तो बढ़ी है, परन्तु लोगों की न ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा बढ़ी है, न ज्ञान के प्रति प्रेम और न ही उनका ज्ञान बढ़ा है। इसके विपरीत ज्ञान के लाघव की स्थितियाँ ही बढ़ी हैं। इस प्रकार ज्ञान का ह्रास ही हुआ है। आप कहेंगे कि आज तो विद्वता बढ़ी है। विद्वता बढ़ी होगी, पर इससे ज्ञान नहीं बढ़ा है। ऐसी विद्वता मस्तिष्क की होती है, वह मस्तिष्क में टेप की गई होती है। जरा सोचें कि आज हम टेपरिकॉर्डर चालू करके 'प्रतिक्रमण' सुन लें अथवा 'भक्तामर-प्रणत मौलि मणि प्रभाणा....' सुन लें। टेप चलता है और हम सुनते हैं, पर क्या इससे टेप को कुछ लाभ होता है ? क्या इतने मात्र से टेप की निर्जरा हो जाती है ? नहीं, टेप की निर्जरा नहीं होती। यही बात मस्तिष्क में चालू किये टेप की होती है। मस्तिष्क का टेप चालू कर दिया और मुँह से शब्दोच्चारण हो गया, यह ज्ञान का रूप नहीं होगा, वह आत्मा को एक प्रतिशत भी प्रकाशित नहीं कर पायेगा। आत्मा को प्रकाशित करना है तो उस मित्र का सहयोग प्राप्त करना होगा, जिसने राजकुमार को सुरंग से बाहर पहुँचा दिया था, तभी ज्ञान से आत्मा प्रकाशित होगा।

इस सदंर्भ में उपनिषद् के एक प्रसंग पर दृष्टिपात करें। उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपनिषद् , वेद, पुराण, गणित, अष्टांग निमित्त

आदि का अध्ययन करने हेतु भेजा । जब अध्ययन सम्पूर्ण करके श्वेतकेतु घर लौट रहा था और रास्ते में ही था, तब पिता ने उसे दूर से ही देखा, तभी उनका माथा ठनक गया । श्वेतकेतु पिता के निकट पहुँचा और पिता को प्रमाण किया, क्योंकि भारतीय संस्कृति में 'मातृ देवो भवः, पितृ देवो भवः, गुरु देवो भवः' कहा गया है । माता-पिता-गुरु को देवतुल्य माना गया है । भूतकाल में माना जाता था, पर आज कितना माना जा रहा है, इस पर हम स्वयं अपने भीतर अन्वेषण करें । अस्तु, श्वेतकेतु झुका किन्तु पिता ने आशीर्वाद नहीं दिया । श्वेतकेतु सोचने लगा- यह क्या हो गया ? मैं पढ़-लिखकर विद्वान् बनकर आया पर पिता ने आशीर्वाद नहीं दिया ! मुझे आशीर्वाद क्यों नहीं दिया ? उसके मन में चिन्तन प्रारंभ हुआ । पिता ने उसकी चाल को देख कर ही समझ लिया था कि यह विद्वान् बना है पर ज्ञानी नहीं, इसलिये आशीर्वाद नहीं दिया था । आशीर्वाद मुंह से तो हजारों बार दिया जा सकता है किन्तु अन्तरंग से वह तब मिलता है, जब उन्हें सब कुछ सौंप दिया जाय । वहाँ यदि सौदेबाजी का भाव हैं तो समझो आशीर्वाद लेना नहीं आया । सच्चा आशीर्वाद तो हृदय से निकलता है और वही माता-पिता संतान को देना चाहते हैं । उनके हृदय में तो आशीर्वाद देने की हिलोरें उठती हैं पर लेने वाले में भी पात्रता अथवा क्षमता होनी चाहिये । यदि पात्रता नहीं हैं तो वे हिलोरें टकरा कर लौट जायेंगी । उनका प्रभाव नहीं होगा । प्रभाव तभी होगा, जब अपना घट खुला रखेंगे । इसे यों समझें । पानी तो खूब बरसा, काली मिट्टी पानी सोख भी लेती पर कृषक ने काली मिट्टी पर पोलिथीन बिछा रखी थी । परिणाम स्वरूप वर्षा तो खूब हुई पर मिट्टी सूखी की सूखी रही । फिर सोचें मिट्टी सूखी कैसे रह गई तो यह नादानी होगी । क्या पानी ने भेदभाव किया ? नहीं, पानी ने भेदभाव नहीं किया, भेदभाव तो आपने किया । आपने पोलीथीन बिछा दी फिर चाहें कि मिट्टी गीली हो जाय तो कैसे होगी ? यह एक रूपक था, इसके भाव को समझें । आत्मा को आपने काम, क्रोध से आवृत्त कर लिया तो ज्ञान की एक बूंद भी घट में नहीं उतरेगी । एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती ।

जहाँ अज्ञान है, वहाँ ज्ञान नहीं रह सकता। जहाँ मिथ्यात्व, मोहनीय, कुमति का वास है, वहाँ सुमति नहीं रह सकती। वहाँ बौद्धिकता, मस्तिष्क की, तर्क की हो सकती है पर वह आत्मा को पवित्र करने वाली नहीं होगी। पवित्र तो वह करेगी जो भीतर से प्रकट होगी। तन्तुओं से प्रकट हुआ कपड़ा कल्याण मार्ग पर ले जाने वाला नहीं हैं। हमने उसे तो सुरक्षा का साधन बना लिया है। माता-पिता के हृदय से तो आशीर्वाद निकल रहा है, पर हमने अपने ऊपर कपड़ा डाल लिया है तो वह प्रवाह हम तक पहुँचने वाला नहीं है। कुबुद्धि तो हममें उपजी, पर हम कहते हैं- भेदभाव किया, उस भाई को ज्यादा दिया, मुझे कम दिया। भेद कौन करता हैं ? माता-पिता तो चाहते हैं कि उनकी प्रत्येक संतान उनका नाम रोशन करे। क्या कोई माता-पिता चाहेंगे कि उनकी संतान उनका नाम बदनाम करे। सब माता-पिता चाहते हैं कि उनसे भी उनकी संतान बढ़ कर हो। उनकी तो आशीर्वाद देने की तमन्ना होती है पर यदि लेने वाले में क्षमता ही नहीं हो तो उसका भला कैसे हो सकता है ? आत्मा का उत्कर्ष नहीं तो उन्हें भी विचार करना पड़ता है। वे देना चाहते हैं, पर जब लेने वाले की तैयारी नहीं तो वे क्या कर सकते हैं ?

आज हमें जगना है। हम सोचें कि हम कौन है ? अपने कर्तव्य पथ में अडिग हैं या नहीं ? यदि अडिग हैं, विचलित नहीं हैं तो ज्ञान को साथी बनायें। जो आगे बढ़ाने का माध्यम है। साथी नहीं तो कभी भी कदम डगमगा सकते हैं। यह साथी है- ज्ञान। यह ज्ञान स्वाध्याय के पाँच भेदों में निहित है। गुरु मुख से ही वांचना लेना सार्थक होता है। यह नहीं कि स्वयं पढ़ा और मन चाहा अर्थ निकाल लिया और सोचने लगे कि मैं ज्ञानी हो गया, ज्ञाता हो गया। पर ज्ञाता होकर क्या प्राप्त किया ? प्राप्त करना है तो वैसा करें, जैसा भगवान् ने कहा है- गुरु की सेवा-पर्युपासना कर ज्ञान लें, मात्र अक्षर ज्ञान नहीं। साथ ही उस ज्ञान को भीतर विकसित करें। यह होगा- विनय से, सद्गुणों से। यदि स्वयं को ही सब कुछ सर्वश्रेष्ठ मान लिया जाय और समझा जाये कि दुनियाँ वाले तो अज्ञानी हैं। कुछ सोच

ही नहीं सकते तो वहाँ ज्ञान टिक नहीं पायेगा, अजीर्ण हो जायेगा । बरसात तो खूब हुई पर वृक्ष पनप नहीं पाया । ऊपर से पानी डालते रहे, पर जड़ें यदि सूखी रह गईं तो क्या लाभ होगा ? यही दशा है- आज हमारे समाज की । हम ऊपर से स्वयं को चमकाने की कोशिश करते हैं, पर लोहा कैसे चमकेगा ? यदि व्यक्तित्व की जड़ ही खोखली है तो व्यक्तित्व एक दिन धराशायी अवश्य होगा । इस हेतु संतों का मार्गदर्शन प्राप्त करें, गुरु का आशीर्वाद लें तो जड़ें कटने की नौबत ही नहीं आयेगी ।

उद्दालक ने आशीर्वाद नहीं दिया, क्यों नहीं दिया ? इसलिये कि श्वेतकेतु सिर्फ विद्वान् था । उसमें मस्तिष्क का ज्ञान था, जो एक प्रकार से टेप तो कर लिया गया था पर वह ज्ञान भीतर उतर नहीं पाया था । श्वेतकेतु ने कहा- पिताजी ! मैं पढ़-लिखकर आया पर आपने आशीर्वाद नहीं दिया । उद्दालक ने कहा- मैंने तुम्हें अध्ययन करने के लिये भेजा था । उत्तर मिला- मैंने सारा का सारा अध्ययन पूर्ण कर लिया है । चार वेद, अष्टांग, निमित्त आदि का ज्ञान प्राप्त कर लिया है । उद्दालक ने कहा- श्वेतकेतु ! तुमने उसको तो जाना नहीं, जो स्वयं जानने वाला है, जिसे जानने से सब कुछ जाना जा सकता है । श्वेतकेतु ने दिमाग दौड़ाया- ऐसा तो कही नहीं है ? यही तो जानने की बात है और तो सब जाना पर जिसे जानने से सब कुछ जाना जा सकता है, उसी को नहीं जाना, तब क्या जाना ? श्वेतकेतु वहीं विनय भाव से पिता के चरणों में बैठकर शिक्षा लेने लगा तथा आशीर्वाद और ज्ञान प्राप्त किया । उसके जीवन व व्यवहार में परिवर्तन हुआ । अब तक उसमें अल्हड़-मस्ती थी, वह 'पर' में भाग रहा था । अब 'स्व' में स्थित हो गया, नम गया । जिसकी विद्वता मस्तिष्क की रहती है, वह नम नहीं पाता । स्प्रिंग उसे ऊपर खींचता है, वह अकड़ता है परन्तु जब ज्ञान हृदय में प्रकट होता है, तब वह जाग जाता है, जान जाता है कि अपने घर में आ गया है, वह सुखी हो गया ।

सुखी बनने के लिए आत्मा का दमन आवश्यक है । आत्मा का दमन करो, तभी इसलोक में सुखी होयेंगे और परलोक में भी । सुख चाहते हैं

पर आत्मा की अवस्थाओं का ज्ञान नहीं और ज्ञान करना भी नहीं चाहते हैं तो सुख कैसे मिलेगा ? ज्ञान कोई भी हो, बाहर से नहीं भीतर से आता है। भीतर क्या पड़ा है ? हमें पता नहीं है । हमने कभी खोलकर देखा भी नहीं, पता क्या पड़े ? तिजोरी में क्या है ? बिना भीतर देखे कैसे पता चले । बाप-दादों ने तो दे दी, पड़ी है तो पड़ी है । देखने का प्रयत्न ही नहीं किया तो मिलने वाला भी कुछ नहीं है । यही बात क्रोध की है । वह भी भीतर रहा हुआ होता है, अतः वह आयेगा । आप सोचें क्रोध न आये और वह न आये, यह संभव नहीं । वह भीतर चुलबुल कर रहा है, अतः आयेगा अवश्य । यह तो हममें क्षमता होनी चाहिये कि उसे पनपने न दें, बढ़ने न दें । बढ़ गया तो फिर बीज फैलेंगे, फिर नये पेड़ उगेंगे । अतः उगते ही उन्हें नष्ट कर दो, यह होगा- जागृति से । यही ज्ञान की कसौटी है । जब आगे बढ़ने न दिया तो कारण नष्ट हो गये । जो है, उसे भी साफ कर दिया तो एक दिन सारे साफ हो जायेंगे ।

आत्मा का दमन करने की जो बात है, उसे भी समझाने की आवश्यकता है । हम जानते हैं कि जिसका दमन होगा, वह भड़केगा पर भगवान् ने दमन की बात कही है । इसका यह मतलब नहीं कि दबाते चलो, दबाते चलो । दबाने से वह भड़केगा । दाबी-दूबी न रहे, रूई लपेटी आग...। आग दबी नहीं रहेगी । लपटें तो उठेगी । हम दमन करते रहें, विकारों को दबाते रहें तो क्या यह सही होगा ? नहीं, फिर भगवान् ने दमन के लिये क्यों कहा ? प्रश्न महत्त्वपूर्ण है । इसका समाधान आवश्यक है, भले ही संक्षेप में हो । प्रभु ने आत्मा के दमन की जो बात कही है, उसका भाव भिन्न है । दमन का अर्थ यहाँ 'शोधन' है । पहले शोधन करो, शोधन होगा- ज्ञान से । ज्ञान नहीं तो विजय नहीं मिलेगी । यदि वस्तुस्थिति ही ज्ञात नहीं तो सफलता कैसे मिलेगी ? अतः शोधन करते हुए हम विकारों को पहले बाहर निकालें, जिसका जितना कर्जा देना है, वह चुका दें । सम्पत्ति बहुत है । समझें जैसे कोई बड़ा सेठ है, फर्म नामी है तो बहुत से व्यक्ति अपनी पूंजी उसके पास जमा करा देते हैं । वह सोचे- अब घर

जाना है, अतः लोगों को कर्ज लौटा दूँ। अब जब उसने सबको चुका दिया तो जो शेष रह गई, वह उसकी स्वयं की पूंजी है। उसे हटाना चाहें तो कितनी देर लगेगी। चेक पर हस्ताक्षर किया कि स्वामित्व हटा। उस समय जो अवस्था होगी, वह निजत्व की होगी। उस अवस्था में न पुण्य अपना है, न पाप अपना है। सिर्फ ज्ञान ही अपना होता है। ब्रह्मदत्त भी पत्नी को नहीं ले जा सका था। केवल ज्ञानरूप मित्र ही साथ रहता है। इसलिये पुण्य-पाप आदि जो भी अवस्थाएँ हैं, उन्हें छोड़ना होगा। इस प्रकार शोधन, दमन कर लिया तो निखालिस आत्मा शेष रहेगा। अतः आवश्यक है कि हम ऊपर की चकाचोंध में न जाएँ। ऊपर की धुलाई तो हम खूब करते हैं पर भीतर मलीनता रही तो सफाई पूरी नहीं होगी। अतः सही मायने में शोधन/सफाई करें तो अवश्य ही एक दिन शाश्वत सुख और आनंद के अधिकार बन जायेंगे।

दिनांक : २८.१२.१९९६, डूंगला

६. आत्म-शोधन की प्रक्रिया का स्वरूप

संभव देव ते धुरं सेवा सेव रे...
वरं मे अप्पा दंतो...

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं को प्रबोध देते हुए कहा था- तुम्हें सुखी होना है, इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी तो अपनी आत्मा का दमन करो । दमन तो करना है पर ऐसा नहीं हो कि तुम उजड्ड बन जाओ । उजड्ड अर्थात् ज्ञानहीन, विवेकहीन, ऐसा व्यक्ति जो होश को छोड़कर केवल जोश में काम करता है । ऐसा भी होता कभी व्यक्ति बल से काम करता है, कल से नहीं । परन्तु जहाँ कल से होना चाहिए, वहाँ बल का प्रयोग करें तो लाभ की स्थिति नहीं बनेगी । देखना होगा कि कहाँ बल का प्रयोग करना है और कहाँ कल का प्रयोग करना है । कल से मतलब है अक्ल से, बुद्धिबल से । परन्तु सर्वत्र बुद्धिबल के प्रसंग से भी काम नहीं होता । कहीं शारीरिक बल की जरूरत भी होती है । ऐसा भी होता है कि यदि बुद्धिबल नहीं तो सफलता प्राप्त नहीं हो सकती ।

जहाँ दमन की बात होती है, वहाँ अपेक्षित होता है कि सामने वाले को दबा दिया जाय । पर यह मनोविज्ञान की दृष्टि से सफल तरीका नहीं है । मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड का कहना है कि यदि वृत्तियों को, प्रवृत्तियों को दबाते चले गए तो उनमें एक दिन उफान आयेगा । नीचे आग सुलग रही हो और ऊपर रखे बर्तन को मजबूती से ढंक दिया जाय तो भीतर बन रही भाप का दबाव बढ़ता चला जायेगा और यदि उसे निकलने का मार्ग नहीं मिला तो वह बर्तन को फोड़ सकती है या विस्फोट कर सकती है । इसीलिये ऊपर से बंधन कस दिया तो यह दमन की उचित प्रक्रिया नहीं होगी । इसके लिए प्रभु कहते हैं-

'वरं में अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।'

आत्मा का श्रेष्ठ दमन वही है, जो संयम और तप द्वारा किया जाय । संयम और तप द्वारा कैसे किया जाय । यह तनिक गहराई से समझने की बात है । अतः पहले यह समझें कि संयम और तप हम किसे मानते हैं ? उपवास कर लिया, आयम्बिल, बेला, तेला, मासखमण कर लिया तो क्या हो गया तप ? उपवास कर लेना- असणं, पाणं, खाइमं, साइमं का त्याग कर देना अथवा सेवन नहीं करना, इतने मात्र से तप नहीं होगा, भले ही इससे मन की संतुष्टि हो जाय । मनुस्मृति कहती है- भोजन त्याग कर दें परन्तु आत्मा के समीप न पहुँचे तो वह लंघन है । चिन्तन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह उपवास नहीं है । उप- समीप, वास- वसनम् रहना, जिससे समीप निवास हो जाय, वह है- उपवास । समीप निवास कैसे हो ? किसके हो ? यह भी समझने की बात है । अभी हमारा निवास राग-द्वेष, काम-क्रोध के नजदीक हैं । यदि कोई विपरीत स्थिति उत्पन्न हो तो काम-क्रोध पहले आयेंगे या क्षमा, मृदुता, सरलता पहले उभरेंगी ? कौन आयेंगे ? निश्चय ही वे ही हम जिनके नजदीक हैं, इसे यों समझें । यदि आप आतंकवादियों के निकट बैठे हैं तो बचाव के लिये आप उन्हें ही कॉल करेंगे । यदि धर्मिष्ठ के नजदीक हैं तो आपत्ति में धर्मिष्ठ का स्मरण करेंगे । आपने अंतगड सूत्र का वाँचन किया होगा । जहाँ कृष्ण वासुदेव के देव का स्मरण का प्रसंग है तो आप समझ जायेंगे कि स्मरण कैसे किया जाता है । यह ढोल-ढमाके बजाकर नहीं किया जाता । क्या देव सोये हैं, जो ढोल-ढमाके की आवाज से उन्हें जगाने की आवश्यकता पड़े । सात्विक भावों से कृष्ण वासुदेव ने आराधना की थी । वे केवल लंघन करके नहीं बैठे थे । पौषधोपवास के रूप में उन्होंने पौषधोपवास स्वीकार किया हो, यह भी मैं नहीं कह रहा हूँ, उन्होंने तीन दिन देव-स्मरण में व्यतीत किये । स्मरण अन्तर मन से था, इसलिये देव आ गया । आज भी व्यक्ति चाहते हैं कि देव आये, मनोकामना पूर्ण कर दे, पर कहीं ऐसा तो नहीं कि देव आ जाये तो घबरा कर भागने लगे ? देव पूछले क्या चाहिए तो घिग्घी बंध जाये, तब हम सोचें कि हम तप कैसे कर रहे हैं ? आत्मा से नजदीकी बनी या

नहीं ? आत्मा की निकटता के लिये तप है, संयम है । दमन की तैयारी हो तो ऐसा नहीं कि पाखण्ड में लिप्त हो जायें और वैसा करने लगे, जैसा दूसरे लोग करते हैं । यह नहीं कि देखादेखी पंचाग्नि तप कर लिया, पैर से वृक्ष पर लटक गये और समझा हमने दमन कर लिया । विचार करें कि मुँह से बोलूँगा तो झगड़ा हो जायेगा, इसलिये मुँह की सिलाई कर लूँ तो इतने मात्र से मौन तो हो सकता है । पर क्या मन की वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ भी शांत हो सकती है ? जब तक वृत्तियों-प्रवृत्तियों को जान न लें, उनका ज्ञान न कर लें और सम्पूर्णतः उनका निरोध न कर लें, तब तक उन्हें मात्र रोक लेने से कोई लाभ नहीं । वह दमन भी नहीं है । आज विविध क्षेत्रों से भाइयों की यह शिकायत आती है- महाराज ! मैं परेशान हूँ । किसके लिये परेशान हैं ? हो सकता है बाहर की स्थिति से परेशान हो । ऐसा भी हो सकता है कि धन-वैभव नहीं है, परिवार कहने में न हो, इसलिये परेशान है । कभी ऐसी स्थिति भी हो सकती है कि वैभव तो प्रचुर है, परिवार एवं अनुचर भी कहने में हैं, नौकर-चाकर है, उसके बावजूद व्यक्ति तनाव में है, परेशानी की अनुभूति करता है । तब स्पष्ट है कि वह भीतर की अवस्था है, वह स्वयं को नियंत्रित नहीं कर पा रहा है । एक भाई कहने लगा- गुरुदेव ! मैं परेशान हूँ, हालांकि सब कुछ ठीक है, पुत्र, पत्नी, पुत्रवधु सब कहने में हैं, हिलमिल कर रहते हैं, कहीं कोई झमेला नहीं है, सभी एक होकर चल रहे हैं, तब परेशानी का कारण यही है कि कहीं पुण्यवानी में कुछ कमी है। पुण्यवानी है, तब तक तो सब ठीक रहता है । नहीं तो....., इस बार आयें तो एक रसोई में गोचरी की । साल-दो साल बाद आयें तो देखें कि ऊपर भी एक रसोई हो गई । तीसरी बार आयें तो तीसरी मंजिल पर चढ़ना पड़े, आखिर क्यों चढ़ना पड़े ? क्या नीचे की रसोई ऊपर चली गई ? नहीं नीचे की तो ऊपर नहीं गई, पर उसका कुछ भाग ऊपर चला गया । ऐसा क्यों होता है, उसका भी कारण है । जहाँ पुण्यवानी का योग होता है, उस घर में सम्पत्ति भी वास करती है । सम्पत्ति का तात्पर्य ही है- साम्य बना रहे । धन बढ़ा परन्तु साम्यभाव अथवा प्रेमभाव नहीं रहा तो वह धन

विपत्ति लाने वाला भी बन जाता है। संसार का अनुभव बताता है कि पैसा भी फितूर सीखाता है, दीवारें खड़ी करता है। पैसा नहीं तो झगड़ा कहाँ होगा ? कभी बिना पैसे भी झगड़े हो जाते हैं, यह अलग बात है। अस्तु ये सारी स्थितियाँ नहीं है, उसके बावजूद परेशानी क्यों ? उस भाई ने बताया- मैं चाहता हूँ, हिंसा न करूँ, गलत प्रवृत्तियों में ने पडूं लेकिन फिर भी अनुचित कर बैठता हूँ। सारे संकल्प-विचार भूल कर, गलत कार्य कर बैठता हूँ।

उस भाई ने ठीक कहा था। ऐसा होता है, आपके न चाहने पर भी बहुत से बेमन के काम हो जाते हैं। भले आप कहें या न कहें, मन कहता है- मैं ईमानदारी से रहूँ, किसी से बेवजह पाँच पैसे भी न लूँ पर उल्टा हो जाता है। हिसाब-किताब करते समय दूसरी स्थितियाँ बन जाती हैं। आपकी क्या कहें, बड़े-बड़े योगियों के पैर खिसक जाते हैं, खिसक रहे हैं। सत्य तो यह है कि दीवार से ईंट खिसके, उससे पहले मन खिसक रहा है। सारा दायित्व मन पर होता है पर यह मन बेचारा भटकता रहता है। वह बेचारा करे भी क्या, उस पर दो तरफी मार पड़ती है। पहली मार तो स्थूल जगत् की पड़ती है। हम स्थूल में जीते हैं। व्यक्ति देखता है- शरीर तो कुछ नहीं कर रहा हैं, मन ही कर रहा है। हम दुर्भावना ग्रस्त होकर मन तक पहुँचते हैं। सोचते हैं- यह बदमाश है, गलत कार्य करवाता है, शांति से बैठने नहीं देता, कभी किसी से लड़ाता है तो कभी किसी से। पर तनिक विचार करें कि क्या हमने कभी मन से पूछा- भाई ! तेरी मेरे से क्या दुश्मनी है। जो तू मुझे इधर-उधर भटकाता है, गलत काम कराता हैं ? नहीं पूछा। यह ऊपर का प्रहार था। दूसरी तरफ सूक्ष्म जगत् है। हम सूक्ष्म में अभी पहुँचे नहीं हैं। मन की बात लेकर चलते हैं कि इसके कारण परेशानी है। पर ध्यान में रखिये कि मन के कारण परेशानी नहीं है, मन ने तो हमें बचा लिया है। कहा जाता है- हिमाचल से गंगा कल्लोल करती हुई निकली। मृत्युलोक के मनुष्यों ने देखा, इस तरह गंगा आई तो त्राहि-त्राहि मच जायेगी, भीषण विनाश हो जायेगा। उन्होंने शंकर

की उपासना की, शंकर ने अपनी जटा खोलकर गंगा को केशों में बन्द कर लिया। ऐसा कहा जाता है। इस दृष्टांत से मन की क्षमता की बात समझने की कोशिश करें। शंकर की क्षमता थी कि उन्होंने गंगा की उच्छृंखलता अथवा उसकी उछल-कूद को नियंत्रित कर, उसे एक अनुशासित धारा में परिवर्तित कर प्रवाहित कर दिया। यही स्थिति हमारे मन की भी है, सूक्ष्म जगत् से गंगा की तरह कितनी धाराएँ और झरने बहते हुए, उस तक पहुँचते हैं, इसका अनुभव किया कभी ? मन के दरवाजे के पीछे क्या-क्या छुपा है, यह जानने की कोशिश की कभी ? इनमें से एक दुर्वृत्ति हैं- अव्रत की। अव्रत अर्थात् व्रत-प्रत्याख्यान नहीं करना। यह वृत्ति उपज कर मन पर गिरती है और मन में आकांक्षाएँ उठने लगती हैं। यदि नीचे आग जल रही हो और ऊपर कढाई में तेल या पानी गरम हो रहा हो और तेल में से धुँआ या पानी में से भाप उठ रही हो और कोई चाहे कि उसमें अपना मुंह देख लूँ तो देख सकेगा क्या ? नहीं। किन्तु यदि तेल या पानी यूँ ही पड़ा है तो उसमें कोई चाहे तो मुंह देख सकता हैं। इसी स्थिति को मन की परत में देखा जा सकता है, पर यदि अव्रत का उद्वेलन है और आकांक्षाएँ जागृत है तो व्यक्ति उसमें उलझ जाता है। वह यह जान ही नहीं पाता कि उद्वेलन की वे तरंगें कहाँ से उठी हैं। इसे यों भी समझें। पानी की धार लगातार गिर रही है, नीचे शिलाखण्ड है तो निश्चित मानिये की उसका सतत प्रहार और वेग, उस शिलाखण्ड को भी तोड़ सकता है। इसी प्रकार अव्रत का झरना, मन के संकल्पों को तोड़ता है क्योंकि वे मजबूत नहीं होते हैं। ईंटों की दीवार में यदि सीमेंट या चूना नहीं लगाया गया तो उनके गिर जाने का खतरा रहता है। परन्तु यदि दीवार की ईंटों को सीमेन्ट या चूने के द्वारा मजबूती से जोड़ दिया जाय तो खतरा नहीं रहता। किन्तु यदि गारे या मिट्टी-गोबर की दीवार चुनते जाओ तो न पक्का बाँध बँध पायेगा न पक्की दीवार। जरूरी है कि निर्माण को सीमेन्ट से मजबूत किया जाय।

आज एक मानसिकता चल पड़ी है- त्याग, प्रत्याख्यान से कौन

बंधे, खुले रहना चाहते हैं । कितने ही भाई कहते हैं- हमारा मन मजबूत है तो त्याग की क्या जरूरत ? अब जरा सोचिये- एक सज्जन हैं, जो सामायिक में बैठे हैं और एक अन्य सज्जन खुले हैं । अचानक समाचार आये कि शीघ्र ही तुम्हें भीण्डर बुलाया गया है । जो सामायिक में है, वह तो बैठा रहेगा पर जो सामायिक में नहीं है, उसका संकल्प टूटेगा या नहीं ? व्याख्यान में चाहे कितना ही आनंद आ रहा हो पर बुलावा आया तो वह झट रवाना हो जायेगा । महाराज तो व्याख्यान सुनायेंगे ही परन्तु ये नियम तो है नहीं कि सामायिक वाले ही भीतर प्रवेश कर सकते हैं । पर वैसा हो जाय तो अच्छा है, तब जिन्हें व्याख्यान सुनना होगा, वे ही आयेंगे । जिन्हें नहीं सुनना है, वो नहीं आयेंगे । ऐसे लोग भले दस ही रह जायें पर वे दस भी हैं तो अच्छे । कम से कम उनका तो, मन को दृढ़ बनाने का संकल्प बनेगा । अव्रत के झरने को यदि रोका नहीं तो कितना ही पानी आता रहेगा, मन स्थिर नहीं रहेगा, उसमें चंचलता बनी रहेगी । कवि आनन्दघनजी प्रार्थना की कड़ियों में कह रहे हैं-

> भय चंचलता हो जे परिणाम नी रे, द्वेष आरोचक भाव,
> खेद प्रवृत्ति ओ करता थाकिये रे, दोष सबोध लखाय....।

भाई शिकायत करता है- मन चंचल है । कवि कहते हैं- यही सबसे बड़ा भय है । लोग कहते हैं- प्रतिष्ठा का भय है, धन का भय है पर मूल भय है- परिणाम की चंचलता । भय का कारण मन के पीछे आ रहा अव्रत और प्रमाद का झरना है । ऊपर आँखें खुली हैं पर भीतर आप सोये हैं । कैसे सोये हैं, मालूम है ? मेरी बात सुन रहे हैं पर कैसे सुन रहे हैं, एक कान से सुन रहे हैं और दूसरे कान से निकाल रहे हैं या उसकी अंतर में पैठ करा रहे हैं ? परन्तु भीतर यदि अर्गला लगी है तो प्रवेश नहीं होगा । अर्गला लगा कर बैठे हैं तो समझ लीजिये कि सोये हैं । कषाय का झरना भी बह रहा है । ये झरने मन पर गिरते हैं । मन क्या करे ? हम मन को थपेड़ते हैं, वैसे ही जैसे फुटबॉल को एक खिलाड़ी एक ओर से ठोकर लगाता है तो दूसरी ओर से दूसरा खिलाड़ी ठोकर लगाता है । स्थूल

और सूक्ष्म की ऐसी ठोकरों से मन जर्जरित हो रहा है। ऐसी दशा में चाहें कि मन सध जाय, हमारे नियंत्रण में आ जाय तो आ जायेगा क्या ? भगवान् महावीर ने कहा- "वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।" क्यों कहा- संयम-तप से दमन करना श्रेष्ठ है ? बताना चाहते थे वे कि पीछे आने वाले झरने अथवा तूफान को रोकने की क्षमता केवल संयम और तप में है, अन्य किसी तरीके से उसे रोका जा सकना संभव नहीं हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि लवण समुद्र से सैंकड़ों लहरें उठ रही हैं, जिन्हें हजारों देव दबाते हैं। पूछा गया- देवों के दबाने से पानी रुक जाता है क्या ? उत्तर मिला- नहीं। पूछा गया फिर क्या कारण है कि लवण समुद्र का पानी जम्बू द्वीप में प्रवेश नहीं कर पाता ? तो कहा गया- जब तक तीर्थंकर भावितात्मा अणगार संयम तप की स्थिति से चल रहे हैं, तव तक जम्बू द्वीप में उस पानी का प्रवेश नहीं होगा। द्वारिका के संबंध में बताया जाता है कि जब तक आयंबिल तप होता रहा, उसका दहन नहीं हुआ। मंत्रीजी कह रहे थे- हमारे यहाँ ३० वर्ष से निरन्तर आयंबिल चल रहा है और उसका साक्षात् प्रभाव यह दिखा कि तूफान में एक बार छः इंच मोटी शिलाएँ तक उड़ गई, पर डूंगला के निवासियों को खरोंच तक भी नहीं आई। तप का इस प्रकार साक्षात् प्रभाव दिखाई देता है, फिर भी दुर्बुद्धि अव्रत में आनंद मानता है।

त्याग-प्रत्याख्यान से घबराता है। मनुष्य सोचते हैं कि यह बंधन है परन्तु वास्तव में बन्धन नहीं है, मन की मुक्ति है। सत्य तो यह है कि अव्रत बंधन है। अव्रत से हम जकड़े हैं और स्वयं को बचा नहीं पा रहे हैं, किन्तु सारा दोष मन पर डाल रहे हैं। मन बेचारा क्या करेगा ? सूक्ष्म जगत् से जो भावधाराएँ आ रही हैं, वे यदि आती रहेंगी और फिर उनसे मन का योग बनेगा तो उसमें भी अशुभ परिणति होगी। शराबी की संगत में कुछ दिन रहें तो एक दिन पैर थिरकने लगेंगे और यदि नृत्य करने वाला भी मौजूद हैं और तबले पर थपकी लगती है तो उसके पैर थिरकेंगे ही। वैसी ही हमारे मन की दशा है। मन को संयम-तप से नियंत्रित नहीं किया

तो तबले की थाप पर थिरकने लगेगा । हम चाहते हैं, हमारा मन हम चाहें वैसा हो, परन्तु देखना यह होगा कि हमारी संगति किसके साथ है । यदि संगति शराबी की है तो बोतल दिखी नहीं कि वह बहकने लगेगा । लेकिन हम समझते कहाँ हैं ? समझना चाहते भी नहीं है कषाय की, प्रमाद की और अव्रत की धाराओं को । ये प्रमुख धाराएँ हैं, यद्यपि इनके साथ जीने वाली अनेक अन्य धाराएँ भी हैं । लेकिन जब तक सूक्ष्म जगत् को जान न लें, इन पर नियंत्रण नहीं कर लें, तब तक मन चंचल परिणामों से रहित नहीं होगा । चंचलता दूर करनी है तो व्रत-प्रत्याख्यान से उन झरनों को रोकना होगा ।

आप जानना चाहेंगे कि क्या इन बातों के पीछे कोई शास्त्रीय आधार भी है ? देख लीजिए भगवान् महावीर ने भगवती सूत्र में कहा है- आत्मा; आत्मारंभी होता है, परारंभी होता है, तदुभयारंभी होता है । आत्मारंभी अर्थात् स्वयं की स्वयं से घात । यह आत्महत्या की बात नहीं है, यद्यपि वह भी आत्मारंभी ही है । पर यहाँ जो कहा है, उसका तात्पर्य आत्मा जिन अशुभ भावों में परिणत होता है, उनसे आत्मा की घात होती है, उन्हें स्थानांग सूत्र में अनात्मा कहा है । कषाय से आत्मा, आत्म-भाव से रहित हो जाती है । यह स्थिति आत्मा को जड़वत् बना देती है । निर्जीव से तात्पर्य जीव रहित होना नहीं किन्तु आत्मा का बेभान हो जाना है । आत्मा पर का आरंभ करने वाली भी है, तदुभयारंभी भी है, भले ही ऊपर से हत्या नहीं कर रहे हो । ज्ञानीजनों ने बताया है कि आत्मा आरंभ कैसे करता है । वह भावनाओं से निरन्तर प्रहार कर पतन मार्ग में ले जाता है, दूसरों के लिये कलुषित विचार करता है । तंदुल मत्स्य ने कितनी मछली खाई ? एक भी नहीं । पर उसी अव्रत के झरने से, तरंगों से सातवीं नरक में चला गया । विचार करें और टटोलें कि हमारे मन में भी ऐसी तरंगें तो नहीं हैं, टटोलें । इसलिये जिससे पता चले कि हमारी भाव-धारा कैसी है । जब पता चलेगा तभी उनसे बचने का उपाय होगा । बचने का उपाय है- अव्रत की क्रिया रोको । रोकने से तात्पर्य है- व्रत से संबंध जोड़ो । जैसे किसी ने

कन्या से हथलेवा जोड़ लिया तो फिर वह विवाहित हो गया, कंवारा नहीं रहा। वैसे ही अव्रत को रोकने के लिये एक व्रत भी धारण कर लिया तो वह व्रतधारी हो गया। एक व्रत से हथलेवा जोड़ लिया, दोस्ती कर ली, शराबी से दोस्ती छोड़ व्रत से दोस्ती कर ली तो समझ लो, अच्छे के साथ बैठे हैं, अच्छे ही बनेंगे। अच्छी संगत, संत-संगत मिली तो अव्रत की क्रिया भी रुक जायेगी। तब मनोबल भी दृढ़ होगा और आप प्रमाद और कषाय को भी रोक सकेंगे। अव्रत रुका नहीं तो प्रमाद कषाय को भी नहीं रोक पायेंगे। यदि अव्रत रुका तो धीरे-धीरे प्रमाद, कषाय और अशुभ योग भी समाप्त हो जायेंगे, फिर मन में अशुभता नहीं रहेगी, वह शुभ में प्रवृत्ति करेगा। यह यदि शोध प्रक्रिया करनी है तो संयम और तप को स्वीकार करना होगा। ऐसा कर लिया तो फिर आत्मा का निखार देख पायेंगे, उसकी अनुभूति कर पायेंगे। यह है दमन-प्रक्रिया। परन्तु दमन का मतलव यह नहीं कि कचरा भरा है, उसे भी दबा दीजिए। यदि उसे दबायेंगे तो दुर्गन्ध उठेगी। गटर पर ढक्कन लगायेंगे तो गंदगी तो नीचे बहेगी ही। भगवान् ने यह नहीं कहा है कि जो कुछ जैसा भी है, उसे दबा दो। भगवान् को ऊपर-ऊपर की सफाई पसन्द नहीं। वे अन्तर की शुद्धि को महत्त्व देते हैं। ऊपर से रेशमी वस्त्र पहन लिये किन्तु मन की अवस्था शुद्ध अथवा स्वस्थ नहीं है तो उनसे पवित्रता नहीं आ जायेगी। अव्रत का रोग है तो जीवन स्वस्थ नहीं रहेगा। रोगी शरीर पर कोई सजावट सुन्दर नहीं लग सकती। असली सुन्दरता तो मन, बुद्धि, विचारों और भावनाओं की होती है। प्रेरणा इस दिशा में जागृत की जा सकती है। संतों के प्रवचन इस दृष्टि से अत्यंत प्रभावी होते हैं। बताया जाता है कि पूज्य दिवाकरजी म.सा. ने जोधपुर में ब्रह्मचर्य व्रत की व्याख्या की तो वेश्याओं तक ने अव्रत का त्याग किया। ऐसे ही उदयपुर में युगद्रष्टा, युगस्रष्टा ज्योतिर्धर जवाहराचार्य के व्याख्यान ने समाज को भीतर तक आंदोलित कर दिया। बहनों की इस दशा का कारण क्या है ? इस अवस्था तक उन्हें पहुँचाने के लिये उत्तरदायी कौन हैं ? बहिनों ने सुना, उन्हें अच्छा लगा, उन्होंने तो

अपना जीवन सुधारा । वे तो सुधर गईं पर इस दशा में उन बहनों को पहुँचाने वालों ने स्वयं को सुधारा या नहीं ? नहीं सुधारा तो वे आगे भी बहनों को पतित करते रहेंगे । समझने की बात है कि व्रत नहीं है तो व्यक्ति इधर-उधर झांकता फिरेगा । जीवन की पवित्रता और प्रतिष्ठा नहीं रहेगी । पहले जैन, राजा के अंतःपुर में जा सकते थे । उनके चरित्र के बारे में सब इतने आश्वस्त थे कि कहीं कोई रोक-टोक नहीं होती थी । आज पैठ है तो बात अलग है पर हर एक को प्रवेश नहीं मिलता । आज उनकी प्रतिष्ठा कहाँ चली गई ? जैन कुल में जन्म लेने से नहीं, परन्तु आचार-पद्धति सही नहीं रही, इसलिये वह प्रतिष्ठा नहीं रही तो हमें कहना पड़ेगा, हतभागी हैं । हमारे काला टीका लगेगा । पूर्वजों की प्रतिष्ठा खो दी, अतः अप्रतिष्ठा में जीना पड़ रहा है । अभी भी समय है, स्वयं को बचाया जा सकता है । इसके लिये अव्रत को दूर हटाना पड़ेगा । अव्रत बैठा है तो प्रमाद-कषाय को भी नहीं रोक पायेंगे । सेठ सुदर्शन ने अव्रत को रोक लिया था, वह व्रतधारी था । पौषधव्रत भी धारण किया हुआ था । अभया ने अपने हाव-भाव दिखाये । आज हाव-भाव न भी दिखायें तो भी भाई पहले ही धराशायी हो जाते हैं । बहनें मजबूत रहें तो उन्हें भी सच्चरित्र बनाये रख सकती है । महारानी ने कहा- महाराज तो मेरी चुटकी का खेल है, मैं उनका काम तमाम कर सकती हूँ ।

'त्रिया चरित्र जाने नहीं कोय, पति मार कर सती होय ।'

विषय-वासना की अग्नि में उसे पति-पुत्र का भी भान नहीं रहा । अभया ने सेठ सुदर्शन में वासना उभारनी चाही किन्तु सुदर्शन दृढ़ बने रहे । राजा ने पूछताछ की । राजा को विश्वास नहीं था कि सेठ राजमहलों में आ सकता था । पर यहाँ तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था । अंधे न्याय की वजह से उसे भी परीक्षण करना पड़ा । उसने कहा- सेठ बोल दो । पर सेठ ने एक शब्द भी नहीं निकाला । पौषध में बैठा था, जिसमें अपराधी को भी दंड देने का त्याग है । पहले अहिंसा व्रत में तो वह खुला है पर पौषध में अपराधी को भी दण्ड नहीं दिया जा सकता । उसने मुँह नहीं खोला । उसने

सोचा- यदि मैं कुछ कहूँगा तो महारानी को दण्ड मिलेगा और मैं दण्ड देना नहीं चाहता । यह है आत्मीयभाव कि व्यक्ति छह काय को आत्मवत् माने पर जीवों का मर्दन हो रहा है तो क्या हमारा दिल हिलेगा नहीं, प्रकम्पन नहीं होगा ? तब कहाँ रहा आत्मवत् का भाव ? नहीं तो एक भी जीव की विराधना, विखंडना हो तो हमारे भीतर पीड़ा होनी चाहिये । स्थूल रूप में तो व्रत स्वीकार कर लिया, सूक्ष्म में अवलोकन नहीं किया तो हम ऊपर की टीप-टोप में रह जायेंगे । भीतर की जड़ों का ध्यान नहीं रहेगा, तब क्या कर पायेंगे दमन ? दमन का तात्पर्य दबाना नहीं है । संयम तप से दमन का सीधा अर्थ है- 'इच्छा निरोधस्तपः' इच्छा का निरोध करना तप है । निरोध तब होगा, जब अव्रत का झरना रुक जायेगा ।

एक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान किया कि पाँच लाख से अधिक की संपत्ति नहीं रखूंगा पर फिर इच्छा दौड़ेगी । नियम ले लिया- आज डूंगला से बाहर नहीं जाऊँगा पर फिर मन दौड़ेगा ? त्याग-भाव नहीं हैं और किसी ने कहा- चलो स्कूटर से घूम आयें, उसने सोचा पैरों से तो चलना नहीं है, चलो चलूँ और चल पड़े । इस प्रकार स्पष्ट है कि अव्रत को रोके बिना स्वयं को रोक नहीं पायेंगे । चंचलता समाप्त नहीं होगी, तब तक मन पर नियंत्रण नहीं होगा और आत्म-नियंत्रण नहीं होगा । हम बाहर देखते हैं जब कि आवश्यक यह है कि हम पहले मन को मजबूत करें, अतः धारा किनारे से न निकले, झरने प्रवाहित न करें । अगर अव्रत का झरना रुक गया तो मन मजबूत होगा । उस धारा से मन को निकाल लिया या वह रुक गई तो आधा बल प्राप्त हो जायेगा । शक्ति आ जायेगी, फिर प्रमाद व कषाय को भी रोक सकेंगे । मन हिलेगा नहीं । सेठ सुदर्शन को सूली पर ले गए पर उसका मन विचलित नहीं हुआ, उसकी आत्मा नियंत्रित हो गई थी । उसने अव्रत को रोक लिया था, इसलिये मन मजबूत रहा था । हम रोकते नहीं तो मन मजबूत कैसे होगा ? यह भारी काम नहीं है, कोई आपसे कहे- ५० रुपये दूँगा, चींटी को मार दो, कौन तैयार होगा ? कोई नहीं । क्यों तैयार नहीं होंगे ? क्योंकि अहिंसा अणुव्रत यही सीखाता है । अहिंसा अणुव्रत क्या

है ? स्थूल प्राणातिपात का त्याग। चलते-फिरते त्रस जीव को मारने की बुद्धि से मारने का त्याग है। स्थावर का त्याग नहीं है। भगवती सूत्र में पूछा गया- जिसने अहिंसा अणुव्रत लिया है, इच्छा पूर्वक त्रस जीव को नहीं मारना है, किन्तु वह हल चला रहा है और कोई प्राणी मर जाय तो क्या व्रत टूटा ? भगवान् कहते हैं- नहीं, क्यों नहीं टूटा ? क्योंकि वहाँ उसके प्रत्याख्यान हैं- इच्छा पूर्वक जानबूझ कर नहीं मारना है। वह निरपराधी है। पर उसे वह मारने की बुद्धि से नहीं मार रहा है। अपराधी को दण्ड देना खुला है।

चेड़ा महाराज ने कोणिक से युद्ध किया, शस्त्र उठाया और अपने ही दौहितों, काल-महाकाल पर बाण चलाये, पर मन का नियंत्रण टूटने नहीं दिया। सोचें कि कहीं हम मन के टुकड़े तो नहीं कर रहे हैं। मन उछलता रहता हैं, जैसे थोड़े पानी में मेंढ़क। पहले एक उछला फिर दूसरा। इस प्रकार पानी को गंदा कर देते हैं। कोई बात हुई- मन विखंडित हो जाता है। प्रमाद, कषाय, अव्रत की धाराएँ चल रही है, मेंढ़कों को खुला छोड़ दिया है, फिर चाहें कि चंचलता न आयें, ऐसा कैसे संभव है ? सेठ सुदर्शन की पत्नी से कहा गया- एक बार मुँह तो देख लो। उसने कहा- यदि वे निर्दोष हैं तो सूली नहीं हो सकती। यदि दोषी हैं तो मुझे नहीं देखना। आज की बहनें हों तो मोह में पागल होकर रोने लगें- बचालो उन्हें। पर सोचे कि यदि पतित है तो बचाने से फायदा क्या ? पतित नहीं हैं, अव्रत से रुका हुआ है तो कोई शक्ति विखंडित नहीं कर सकती।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

देवता किसे नमन करते हैं ? जिसका मन धर्म में हो, उसे देव नमन करते हैं। हो गई सूली ? 'सूली का सिंहासन हो गया, शीतल हो गई ज्वाला...।' धर्म में इसी प्रकार रमे थे- मुनि तेजसिंहजी। उनके जीवन में तेज था। ऐसे ही साधु- धर्म की नैया की पतवार का काम करते हैं। संघ

अणुव्रत की पालना इसी दिशा में प्रयास है और यदि थोड़ा सा ख्याल एवं विवेक रखें तो इसकी साधना कठिन नहीं होगी। व्रत-आराधना से मन में मजबूती आती है। एक व्रत की आराधना से भी वह झरना रुक सकता है। उसके बाद अन्य झरने भी रूकेंगे। मन में मजबूती आई तो भावों में विशुद्धि आयेगी और यदि विधि पूर्वक ऐसा करते रहेंगे तो संयम-तप से श्रेष्ठ दमन भी संभव होगा। फिर प्रभु की अवस्था से साक्षात्कार कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार स्वरूप प्राप्त कर पायेंगे।

दिनांक : २६.१२.१६६६, डूंगला

७. मानवता की खोज

मनुष्य जीवन को बहुत महान् माना गया है। उसे 'लाखीणा' और अनमोल भी कहा जाता है। जिसकी कीमत न आँकी जा सके, उसे भी अनमोल कहा जाता है और जिसकी कीमत नहीं होती, उसे भी अनमोल कहा जाता है। इस प्रकार जो बिना पैसे मिलता है, जैसे मिट्टी अर्थात् जो सामान्य पदार्थ हैं, जिनकी कोई कीमत नहीं होती, वे भी अनमोल कहे जा सकते हैं। पर तब अनमोल का अर्थ होता है- बेमोल, जिसका कोई मूल्य नहीं। परन्तु मनुष्य जीवन के संदर्भ में इस अनमोल शब्द का एक विशिष्ट अथवा गूढ़ अर्थ ग्रहण किया जाता है- जिसका मोल न आँका जा सके, वह समर्थ। इसीलिये कहा गया है-

'नर तेरा चोला, रतन अमोला...।'

रतन की तो फिर भी कुछ कीमत होती है, भले ही वह लाखों, अरबों, खरबों में आँकी जाये, पर मनुष्य भव का अथवा मानव जीवन का कोई मूल्य आँका ही नहीं जा सकता। कभी-कभी व्यक्ति विचारमग्न हो जाता है- 'क्या करूँ, मेरे पास कुछ नहीं है,' तब वह यह नहीं सोचता कि मेरे पास वह चीज है, जिसे ज्ञानियों ने अनमोल कहा है, जिसके लिये देव भी तरसते हैं और जब स्तवन का प्रसंग आता है तो सोचते हैं कि श्रावक का कुल मिले तो बहुत श्रेष्ठ, नहीं तो श्रावक के घर में काम करने वाले दास के रूप में भी स्थान का सौभाग्य मिले। तब सोचें कि क्या कारण है कि मनुष्य को श्रेष्ठ माना गया है, सृष्टि का राजा- जीवन माना गया है। परन्तु विचारणीय यह है कि जो इस राजा जीवन को जी रहे हैं, क्या उन्हें भी इस की महत्ता का, मूल्यवत्ता का भान है? वे शायद इस स्थिति में [illegible] जीवन को दयनीय रूप में व्यतीत कर रहे हैं।

इसीलिये कहा जाता है- "हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ।" इस जीवन में क्या प्राप्त करना चाहिये, परन्तु क्या किया जा रहा है, यह ऐसी स्थिति है जिस पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिये ।

यदि यथार्थ में इस जीवन को अनमोल माना गया होता तो इस जीवन की यह दुर्दशा नहीं होती । मानव जीवन जीने वाले जिन भावों में जी रहे हैं और जैसी चित्तवृत्तियों का निर्माण हो रहा है, वह चिन्ता और दुःख का विषय है । इस दृष्टि से मुख्यतः दो वृत्तियों की बात की जा सकती है- (१) विधेय, (२) निषेध ।

विधेय में सर्जन होता है, जबकि निषेध में प्रतिक्रिया होती है, अकर्मण्यता होती है तथा निराशा और हीन मनोदशा का निर्माण होता है ।

मनोवैज्ञानिक डॉ. मैक्डूगल कहते हैं- मनुष्य के भीतर कुछ मूल भाव होते हैं और उन भावों का जो प्रतिफलन होता है, वे उसकी वृत्ति बनते हैं । इन भावों में एक भाव है- भय । प्रायः प्रत्येक प्राणी में यह भाव विद्यमान रहता है, चाहे वह नरक का नैरियक हो, तिर्यंच प्राणी हो, मनुष्य हो या देव हो । विचारणीय यह है कि हमारे भीतर क्यों पैदा होता है तथा कैसे बनता हैं ? गहराई से चिन्तन करने पर इसके जो कई कारण दृष्टिगत होते हैं, उनमें एक कारण लोभ भी है । यदि लोभ नहीं तो भय का संचार नहीं होगा । व्यक्ति कुछ प्राप्त करना चाहता है तथा प्राप्त किये हुए का संरक्षण चाहता है । जो प्राप्त किया है, वह कहीं चला न जाय, यह जो भय वना रहता है, उससे लोभ की संज्ञा पैदा होती है । इस लोभ वृत्ति के प्रभाव में कहा गया है- "ज्यों प्रतिलाभ, लोभ अधिकाई ।" पदार्थ तो पदार्थ हैं पर जब उनसे लगाव जोड़ा जाता है, तव भय का पौधा अंकुरित होता है । मनुष्य सोचता है- भय क्यों पैदा हुआ । परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वह जव तक उस पौधे को सींचता रहता है, खाद-पानी देता रहता है, तव तक भय वना रहता है । वह हमारी विधेय क्षमता को तिरोहित करता है । उस

अवस्था में हमारा विवेक कुण्ठित हो जाता है । मनोवैज्ञानिक वडॉ. मैक्डूगल का कहना है- भीतर के भय के भावों का जैसे-जैसे विकास होगा, वैसे-वैसे भीतर पलायनवृत्ति आयेगी । परन्तु भागने की बात तो बहुत आगे की है, इसके बीच में ही आ जाती है- प्रतिक्रियात्मकवृत्ति, निषेधवृत्ति । वह स्वयं को कार्य करने में सक्षम नहीं मानता, वह कुछ कर नहीं पाता । ऐसी स्थिति में व्यक्ति की प्रतिक्रिया के अलावा किसी कार्य में रुचि नहीं रहती । बस एक विषय रह जाता है- प्रतिक्रिया प्रदर्शित करना । वह जब इस वृत्ति में जीने लगता है तो एक दिन भीतर निराशा की वृत्ति का संचार हो जाता है और जब वह निराशा में आकंठ डूब जाता है, तब फिर पलायन की कोशिश करता है । इस स्थिति में वह किसी का सामना नहीं कर पाता । कोई सामने देख लें तो वह अपनी आँखें नीची कर लेता है, झेंप जाता है । ये प्रसंग बनते हैं- हीन भावों से । जब निषेध वृत्ति पनपती है, तब ऐसी ही दशा बनती है ।

आपने देखा होगा कि संतान जब गलत काम करती है तो प्रारंभ में तो वह छिप कर करती है, माता-पिता के सामने प्रकट नहीं कर पाती, थोड़ी लाज रहती है । छिपा कर इसलिये करती है कि भय रहता है कि कोई जान न ले । यदि ऐसा व्यक्ति कभी रंगे हाथ पकड़ा जाय तो कैसी वृत्ति पैदा होती है, आपने अनुभव किया होगा, वह गर्दन, आँख नीची कर अंगूठे या पंजों से जमीन कुरेदता है । उसके मन में हीन भाव एवं ग्लानि पैदा हो जाती है । उसके मन में आता है कि भाग जाऊँ, वह रिक्तता का अनुभव करता है । मन प्रेरित करता है- भागो । जब तक भय की ऐसी स्थिति बनी रहती है, तब तक वह मानव-जीवन की महिमा को भूला रहता है और अपने जीवन के साथ अन्याय करता रहता है । अनमोल जीवन पाकर भी, जो उसे नहीं समझ सके, वह उसका क्या उपयोग कर पायेगा ?

पूज्य गुरुदेव (आचार्य श्री नानेश) एक दृष्टांत देते हैं- एक गड़रिया जंगल में घूम रहा था । उसे एक चिकना पत्थर मिला । उसने देखा तो सोचा चिकना पत्थर है, घर ले जाऊँ, बालक खेलेगा । उसने उसे अंटी में

वाँध लिया पर ज्यादा देर रख नहीं पाया। थोड़ी देर बाद खोला और उछाल कर देखने लगा। वैसा चिकना चमकीला पत्थर उसने पहली बार ही देखा था। सूर्य की किरणों से उस पत्थर में उसे अलग-अलग रंग नजर आने लगे। चमक देख-देख कर वह खुश होने लगा। उछलता हुआ गाँव में पहुँचा। गाँव के किनारे महाजन की दूकान थी। उसने कहा- भाई थोड़ी तम्बाखू दे दें। महाजन ने तराजू उठाई, उसमें कामण थी। एक पलड़ा ऊँचा, एक पलड़ा नीचा था। पहले किसान देखते थे कि तराजू कैसा है। उस भाई की निगाह तराजू पर पड़ी, तराजू में कामण है। उसने वह पत्थर रख दिया, कामण वरावर आ गई। महाजन ने विचार किया- रोज-रोज कामण निकालता हूँ, यह बराबर का पत्थर ही क्यों न ले लूँ। बोला- यह पत्थर मुझे दे दो। गडरिये ने कहा- कैसे दे दूँ, इससे तो वालक खेलेगा। महाजन ने कहा- ले लो, एक चिमटी तम्बाखू ज्यादा देता हूँ और पत्थर लेकर तराजू के वाँध दिया कि काम बन गया। जिसने रहस्य को जाना नहीं, वह बहुमूल्य पत्थर की भी क्या कदर कर सकता था ? रहस्य न तो महाजन जाना, न गडरिया। महाजन जान लेता तो तराजू के नहीं बाँधता। झट तिजोरी में रख देता। इसीलिये कहा गया है कि जब तक मूल्यवत्ता का ज्ञान नहीं, तब तक हीरे की कीमत भी एक चिमटी तम्बाकू से अधिक कोई क्या लगायेगा ? इसीलिये सचेत करते हुए कवि कह रहे हैं-

नर तेरा चोला, रतन अमोल।
विरथा खोए मती ना ॥

यह चोला मिला है, इसे भय, प्रतिक्रिया, निषेध वृत्ति में ही व्यर्थ नहीं गवाँना है किन्तु इससे सार निकालना है। सार कैसे निकाला जाय, उसकी भी कोई विधि या तकनीक होनी चाहिये। इसे ही उद्घाटित करते हुए प्रभु महावीर ने कहा है-

'चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।'

जीवों को चार अंग दुर्लभता से प्राप्त होते हैं। हालाँकि यह भी कहा

जाता है- 'चेतन चेतो रे, दस बोल जगत में दुर्लभ मिलिया रे' परन्तु उन दस बोलों में भी पहला है- मानव भव । यहाँ चार अंग की बात है- पहले कहा कि जीवन में मानवता होनी चाहिये संस्कृत में व्युत्पत्ति की जाती है तो जो गुण होता है, उसके आधार पर वस्तु में अर्थ क्रियाकारीत्त्व घटित हो तो वह वस्तु यथार्थ है । यदि गुणवत्ता नहीं तो वह रूढ़ अर्थ होगा । मानवता है, वही यथार्थ में मानवता की स्टेज है और उसे मानव ही प्रतिष्ठित करने वाला है । मानवता भीतर नहीं हैं और केवल दो हाथ, दो पैर का पुतला है तो ओघ से, रूढ़ से भले वह मनुष्य है, किन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से वह मानव कहलाने लायक नहीं है । मानव की स्थिति यही है कि वह अनुभव करें कि मैं मानव हूँ । परन्तु आज क्या व्यक्ति मानवता को जान रहा है ? नहीं जान रहा है, हालाँकि दूसरी बातें वह बहुत जानता हैं । आलेवर कामोनी के सामने चार व्यक्ति पहुँचे । उसने पूछा- आप यहाँ किस उद्देश्य से पहुँचे हैं ? एक ने कहा- मैं जीवन में कुछ उद्देश्य लेकर चलता हूँ, बिना उद्देश्य नहीं । आलेवर कामोनी ने पूछा- क्या उद्देश्य है ? पहले व्यक्ति ने कहा- मुझे वैज्ञानिक बनना है । दूसरे से पूछा- तुम्हें क्या बनना हैं ? उसने कहा- मुझे लेखक बनना है । तीसरे ने कहा- मैं तत्त्ववेत्ता बनना चाहता हूँ । चौथा व्यक्ति मौन था । उससे भी पूछा गया, उसने कहा- मैं क्या कहूँ ? उससे कहा गया- सब अपनी-अपनी बात कह रहे हैं तो तुम भी अपनी बात कहो । तुम्हारा लक्ष्य या जीवन का उद्देश्य क्या है ? उसने कहा- साहब ! मेरे मन में सदा एक भाव रहता है, एक विचार रहता है कि मैं अपने जीवन में मानव बनूँ ।

आज आप वच्चों से पूछे कि तुम्हारी पढ़ाई का लक्ष्य क्या है तो कोई कहेगा- मैं सर्विस करना चाहता हूँ, कोई कुछ और कहेगा और कोई कुछ और । अलग-अलग वातें सामने आयेंगी । पिता डॉक्टर है तो बच्चा संस्कारों के प्रभाव से कह देगा- मैं डॉक्टर वनना चाहता हूँ । बच्चों से तो क्या युवाओं से भी पूछ लें तो वे भी ऐसा ही कुछ कहेंगे । हम देखते हैं कि आज युवाओं के भीतर से भी वहुत सी विधेय क्षमता लुप्त हो गई है,

परिणाम स्वरूप उनमें निराशा व्याप्त हो गई । बी.ए., एम.ए. पास हैं पर भीतर हीन भावना घर कर गई है । यह भावना क्यों पनपती है ? इसलिये कि भीतर अकर्मण्यता होती है, वे काम कम करना चाहते हैं, तन तोड़ना उन्हें पसन्द नहीं । वे चाहते हैं सरकारी नौकरी मिल जाये और सभी झंझटों से मुक्ति मिले । न जाने कितने डिपार्टमेन्ट्स में आवेदन पत्र भरते रहेंगे । यह नौकरी भी फँदा है, किस समय लटके पता नहीं, जैसे मौत का फँदा । फँदा इस प्रकार कि इसकी चपेट में व्यक्ति अकर्मण्य ज्यादा बनता है, पुरुषार्थी कम बनता है । दो हाथ, पैर के बीच पेट है, उसे भी न भर सके तो मानव होने का अधिकार क्या ? पक्षी भी जिसके दो टाँगे होती हैं अपना और अपने बच्चों का पेट भर लेते हैं । चिड़ियों को ही देख लीजिये, किसी भी प्रकार अपने बच्चों की परवरिश कर लेती हैं । ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने में हीन भावना उत्पन्न कर ले, यह अनोखी बात है । इसका कारण है- वह चाहता है सरकारी नौकरी मिल जाय, सीट पर बैठा रहूँ, बस ड्यूटी पूरी करूँ और घर जाऊँ । परन्तु वह जब तक ऐसी दशा में चलता रहेगा, हीन भावना उसका पीछा नहीं छोड़ेगी और वह न निषेध वृत्ति से स्वयं को ऊपर उठा पायेगा, न मनुष्य जीवन की सार्थकता समझ पायेगा । एक ही चीज उसके सामने रहेगी- पैसा, पैसा । जहाँ दो पैसे अधिक मिलें, उधर उसका रूझान हो जायेगा । इस प्रकार की कमाई में न नैतिकता रहेगी, न कर्त्तव्य-परायणता का भाव । ऐसे अकर्मण्य व्यक्ति के लिये मानवता का कोई मूल्य नहीं होगा । ऐसा आत्मकेन्द्रित व्यक्ति उन सभी मूल्यों की हत्या कर देगा, जो इस संसार का आधार हैं तथा इसे रहने योग्य स्थान बनाये रखते हैं । हम जानते हैं कि वैसे व्यक्तियों से ही संसार को सबसे बड़ा खतरा है, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति सदा अपने लिये ही संग्रहण करने में रहती है; परिणाम स्वरूप दूसरों का स्वत्व वे स्वीकार ही नहीं कर सकते । ऐसे व्यक्तियों की प्रवृत्ति को पशु-प्रवृत्ति, कहा गया है-

यही पशु प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे ।
मनुष्य है वही कि जो मनुष्य के लिये मरे ।।

भले ही इस प्रकार के मानवता-विहीन मनुष्य स्वयं का भविष्य ही क्यों न बिगाड़ लें, परन्तु दूसरों की अवहेलना करने वाले ऐसे व्यक्ति उस ओर सोचते भी नहीं हैं। उनका हाथ स्वयं के मुंह की ओर ही रहता है और वे स्वयं डकारने की बात ज्यादा करते हैं, देने की बात उनसे बहुत कम बनती है। आप कहेंगे- कम कैसे बनती है ? मैं तो आँकड़े नहीं रखता, पर एक भाई ने सुनाया था कि क्रिश्चियन लोग भारत में प्रचार-प्रसार के लिये एक वर्ष में १२,००० करोड़ रुपये खर्च करते हैं। उन्होंने ही आँकड़ा बताया कि जैनों द्वारा तो सद्प्रवृत्तियों एवं कार्यों हेतु १४,००० करोड़ रुपये का अनुदान प्रतिवर्ष दिया जाता है, इसके उपरान्त भी उनकी स्थिति दयनीय है, क्योंकि उनके पास दान के सदुपयोग की तकनीक नहीं है, न वे उपयोग का तरीका ही जानते हैं। वे दबावों अथवा विवशताओं के चलते दान देते हैं। कभी वे भय के कारण दे देते हैं। मिनिस्टर साहब आ गये तो पाँच लाख रुपये पकड़ा देंगे, क्योंकि यदि वे अप्रसन्न हो गये और कहीं उन्होंने इशारा कर दिया, चैकिंग हो गई या छापा पड़ गया तो मुसीबत में पड़ जायेंगे, अतः उन्हें चुपचाप दे देंगे। अन्य कार्यों हेतु भी आप देते हैं। १४,००० करोड़ रुपये देते हैं, पर आज आपकी कोई साख नहीं, प्रतिष्ठा नहीं। कारण क्या हैं ? आप केवल बचाव हेतु अथवा भय से अथवा वाह-वाही लूटने के लिये देते हैं। इस प्रकार आप निषेध वृत्ति में जीना जानते हैं, विधेय वृत्ति से स्वयं को जोड़ना नहीं जानते। सोचते हैं कि यदि मैं स्वयं जुड़ा तो व्यापार का, परिवार का क्या होगा ? पर परिवार, समाज, व्यापार की व्यवस्थाओं को व्यवस्थित बनाने के लिये अथवा वालकों की शिक्षा के लिये ईमानदारी से विचार करें तो बड़ी बात है। ऐसे विचार शुभ चिन्ह हैं, ऐसे भाव आने चाहिये पर बहुत से अभिभावक वच्चों में धार्मिक संस्कार जागृत करने के प्रति सजग नहीं हैं, क्योंकि वे स्वयं ही संस्कारों से शून्य हैं। सामायिक या नवकार मंत्र भी उन्हें आता है या नहीं, पता नहीं ? नवकार मंत्र भी सुन लें तो शुद्ध उच्चारण भी कर पायें या नहीं। फिर कैसे वे स्वयं धर्म में प्रवेश कर पायेंगे ? कहाँ वे मनुष्य जीवन

की सार्थकता समझ पायेंगे ? उनका जीना सार्थक नहीं । वे स्वयं सोचें कि कहीं वे केवल पृथ्वी पर भार भूत तो नहीं हैं ? भार बनने से क्या फायदा ? १०० करोड़ की भीड़ वैसे ही है, उस पर एक व्यक्ति की भीड़ और बढ़ गई, उससे विधेयात्मक चिन्तन नहीं बनेगा । वह चिन्तन बनेगा, जब लोभ, द्वेष आदि भाव तिरोहित हो जायेंगे । खेद, द्वेष, भय जैसे रोकने वाले हैं । थोड़ी सी बात हुई कि द्वेष जगेगा । कवि की भाषा में कहा जाये तो- 'द्वेष आरोचक भाव ।' कोई कहें मुझमें द्वेष भाव है ही नहीं, कोई प्रतिक्रिया भी नहीं है । उससे कहें- सामायिक करनी चाहिये तो वह कहेगा- बापजी, म्हारे सामायिक ही है । परन्तु यदि केवल मुंहपत्ती बाँध कर इधर-उधर की बात कर ली तो वैसी सामायकि से क्या मतलब ? सामायिक का यह स्वरूप नहीं है कि उसमें इधर-उधर की चर्चा करें । तुम केवल प्रतिक्रिया कर रहे हो, तुम्हें सामायिक का अधिकार नहीं है । पहले तुम वैसी तत्परता दिखाओ, आत्मभाव में लीन होकर सामायिक करो और सही सामायिक करके आदर्श उपस्थित करो । ताकि दूसरे लोग जो स्वरूप समझे नहीं है, वे भी समझ जायेंगे । अधिकतर होता यह है कि सामायिक करने का विधेय पक्ष तो जागता नहीं केवल प्रतिक्रिया व्यक्त होती रहती है । इससे मिलेगा कुछ नहीं । इससे केवल क्रिया की प्रतिक्रिया ही होगी, रुचि जागृत नहीं होगी । रुचि नहीं जगने का मतलब है कि वहाँ द्वेष है । जो अरूचि है, वह द्वेष है । जब तक धार्मिक क्रिया के प्रति एवं मानवता के प्रति रुचि नहीं है तो वहाँ सही लाभ नहीं मिलेगा । इच्छा नहीं है, जैसे कोई औपचारिकता निभानी है, कोई कर्जा चुकाना है, जैसे खाना है, जी मचला रहा है पर खाना है- थोड़ा चूरण, चटनी ली ताकि जैसे-तैसे भूख जग जाये । भूख जागृत करनी है तो मानवता की भूख जागृत करो, मानवता क्या है, यह समझो । यह समझो कि मानवता का सार क्या है ? आपके माता-पिता ने आपको पैरों पर खड़ा कर दिया । आप भी अपने बच्चों को खड़ा कर दें, विवाह कर दें, दुकान करा दें, बस क्या इतना ही काम है या और भी कुछ काम है ?

'आहार निद्रा भय मैथुनं च, समानमेतत् पशुभिः नराणाम् ।' यह तो पशुओं जैसा आचरण है, क्योंकि इतना तो अपनी सीमाओं में वे भी कर लेते हैं ।

धर्म से लगाव रखिये, धर्म का तात्पर्य जैन धर्म से नहीं है । धर्म में भेद नहीं है । धर्म में भेद हमने किया है- वह भी ऊपरी क्रिया-कलापों के आधार पर । धर्म है- आत्मा का स्वभाव, जब मनुष्य स्वयं के स्वभाव में आता है, तब वह धर्म है, तभी वह जीवन को सार्थकता प्रदान करता है । देव भी ऐसे मनुष्य जन्म में आना चाहते हैं । सोचते हैं कि हम भी उस भव से अपना स्वभाव प्राप्त करें, नर से नारायण बनें । मानव से मुक्त बनें, क्योंकि देव-भव से मुक्ति नहीं होगी, यह वे जानते हैं । मुक्ति का एक मात्र मार्ग वही है, जो हमें मिला है । हम सौभाग्यशाली होकर भी सौभाग्य की उपेक्षा कर रहे हैं । हमें सचेत करते हुए कवि ने कहा है-

भोला आत्मा रे दाग लगाइजे मती ।
उजली ने मैली बणाइजे मती ।।

यह आत्मा निष्कलंक रहनी चाहिये, क्योंकि इसे प्राप्त जीवन श्रेष्ठत्तर जीवन है । यह देवों का भी प्रिय जीवन है । प्रभु महावीर ने भी संबोधन दिया है- 'अहा सुहं देवाणुप्पिया', तूं देवों को भी प्रिय है । देवता भी इस जीवन के लिये तरसते हैं । हम सौभाग्यशाली है फिर भी इस चादर पर दाग ही दाग लगाते जा रहे हैं, यदि दागों को धोने का काम नहीं किया तो आत्मा निर्मल कैसे रह सकेगी ? घी-तेल के व्यापारी यदि साबुन से कपड़े न धोयें, छींटे गिरते रहें.., गिरते रहें... और वे गिरते रहने दें तो क्या स्थिति होगी ? पहले घर में अलग बर्तन होते थे । दूध गरम करने के बर्तन को कड़ावणी कहते थे, दही जमाने के बर्तन को जावणिया कहते थे । दूध के बर्तन में जो खुरचन लग जाती है, यदि बहनें उसे हटाये नहीं, लगी रहने दें तो उस दूध में ओंधी-ओंधी वास आने लगती है । इसलिये बहनें चतुराई से उसे पहले ही हटा देती हैं, जिसमें बिलौना करती अथवा दही जमाती हैं,

उन वरतनों को भी गरम पानी से साफ करती हैं । यदि साफ नहीं करें, उन वर्तनों को यूँ ही रख दें और आँधी आने से उनमें धूल चिपक जाये तो वे इतने गंदे हो जायेंगे कि फिर उन्हें साफ करने में कठिनाई आयेगी । जड़ वर्तनों की सफाई का तो इतना ध्यान रखा जाता है पर सोचें कि हम उस आत्मा की कितनी सफाई कर रहे हैं, जो कचरे से भर गई है ? चतुर्गति की अंधड़-आँधियों से जो कचरा भरता रहता है, उसे साफ करने के लिये विधान हैं- तप, संयम, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि । ये सारे के सारे आत्मा के लिये सावुन-सोडे का कार्य करते हैं । साबुन से साफ हो सके तो साबुन से करें, ज्यादा क्षार की जरूरत हो तो सोडा और उससे भी पूरी सफाई न हो तो कभी-कभी कास्टिक सोडे का भी प्रयोग करना पड़ता है । इसी प्रकार तपों का भी विश्लेषण है- अनशन-ऊनोदरी । हम इनकी मोटी परिभाषा कर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं । अनशन का तात्पर्य अशन, पान, खादिम, स्वादिम का त्याग ही नहीं है किन्तु आत्मा के नजदीक जाना है । ऊनोदरी का तात्पर्य हम कर लेते हैं कि चार रोटी की भूख है तो तीन खायें किन्तु इसके पीछे गहरा भाव छुपा हुआ है । भाव ये हैं कि मानवता लुप्त न हो जाय । हंडियाँ को खुरचन न लग जाये, इसलिये ऊनोदरी करनी है ।

बाजार में दुकान के सामने से निकलीं वहिनें और नई डिजाइन की साड़ी देख ली, तव भाव क्या वनते हैं ? पर्स में नोट हों और श्रीमानूजी ने भुगतान लाकर दे दिया हो तो साड़ी देखने के वाद मन चलेगा- ले लूँ । मोलाई (मोल) भी कर ली । फिर मन में आ जाय कि इसे नहीं लेना है । कारण कुछ नहीं, मेरा इसके प्रति राग-भाव है, लगाव है, इससे मुझ में लेप लगेगा । मैं इसका त्याग कर देती हूँ । यह भी हो सकता है कि लेकर आ जाये फिर सोचे- मैं नहीं पहनूँगी । यह भी ऊनोदरी है । भोजन करने बैठे, आमरस आ गया, आपकी रुचि भी है, मन में आया एक-दो कटोरी पी लूँ । पर फिर मन में आया नहीं, आज नहीं पीना है, हो गई ऊनोदरी । शालिभद्र की आत्मा ने की या नहीं ऊनोदरी ? रो-रो

कर खीर बनवाई। खाने की तैयारी थी, महात्मा आ गये। क्या करना अब ? कभी खीर खाई भी नहीं थी। उसने महात्मा को सेठों के घर देखा था। सोचा- आज मेरे घर तिरण-तारण की जहाज आई है और उलट भाव से दान दिया। हम सुपत्र को दान देना चाहते हैं पर उसके पीछे ऊनोदरी भाव की स्थिति कैसी है, अपने भीतर इसका भी अन्वेषण करना चाहिये। प्रत्येक स्थान में जहाँ आत्मा के लेप लगने की स्थिति है, वहाँ सतर्क रहना चाहिये। जैसे तेज आँच पर खिचड़ी बनाई तो वह बर्तन के लग जायेगी। कभी आप मक्की की राब बनाते हैं तो उसे यूँ ही नहीं छोड़ देते, बीच-बीच में हिलाते भी रहते हैं। हिलाते हैं ताकि वह तावणी के न लगे, बराबर बन सके। वहाँ हमारी तैयारी होती है कि वह लगे नहीं। वैसी ही ऊनोदरी तप है, ताकि आत्मा बर्तन में चिपके नहीं। शरीर रूप वर्तन में रहते हुए जल-कमलवत् रहें। परिवार में रहें तो ऐसे-

अहो समदृष्टि जीवड़ो, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अंतर्गत न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल।।

मानवता की सार्थकता निर्लिप्त रहने में, ऊपर उठने में है, बर्तन में चिपकने में नहीं। बर्तन भिन्न है, पदार्थ भिन्न है। शरीर बर्तन है, इसमें रहने वाला आत्मा भिन्न है, उसी के माध्यम से आप देख-सुन रहे हैं। यह भिन्नता का बोध ही हमें हृदय में बैठाना है। इस बोध के हो जाने में ही मानव जीवन की सार्थकता होगी। हमें सार निकालना है। परन्तु दुर्भाग्य है कि हमनें सोच लिया है कि आत्मा ही शरीर है, शरीर ही आत्मा है। माषतुष मुनि का आख्यान इस दृष्टि से मार्गदर्शक हो सकता है।

माषतुष मुनि अपने गुरु के पास पहुँचे- गुरुदेव ! मुझे पाठ याद नहीं होता। गाथा लेकर आये, फिर भूल गए, फिर गये। साथ वाले साधु कहते- कैसा ठोठी साधु है ! यहाँ से वहाँ गया कि पाठ भूल गया ! कई साधु हमदर्दी भी दिखाते- देखो ज्ञान चढ़ता नहीं पर लगन कितनी है। दस बार गुरुदेव के पास जाकर गाथा लेता है, शर्म नहीं करता है। ये है गुण

की वात। दुनियाँ में दोनों तरह के लोग होते हैं। वहुतों ने तो यही कहा- आता-जाता कुछ नहीं, गुरुदेव का समय वरवाद करता है। सुनकर मुनि के मन में उतार-चढ़ाव भी आया। गुरुदेव से निवेदन किया- मैं साधु वन गया पर कुछ याद नहीं होता। आलोचना सुनकर मन पर चोट भी होती है। गुरु ने कहा- भाई ! ऊनोदरी कर ले। 'मा तुष, मा रूष'- प्रशंसा से खुश मत होओ, निन्दा से रुष्ट मत होओ। याद कर रहे थे कि जंगल की हाजत हुई। वाहर गये, फिर भूल गये कि गुरु ने क्या कहा था। लौट रहे थे कि देखा खेत में किसान खला निकाल रहा था, पूछा- भाई यह क्या है ? उत्तर मिला- ये माष है, ये तुष है। माष का अर्थ है 'उड़द।' उन्हें तुरन्त याद आया, गुरु ने मुझे यही सूत्र वताया था- माष-तुष। माष भिन्न है, तुष भिन्न है। वैसे ही शरीर अलग है, आत्मा अलग है। चिन्तन चला-

"हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे म्हारे खरुं।"

मैं कौन हूँ ? माष-तुष का चिन्तन चलता रहा, भीतर की तंत्री झंकृत हुई। आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। इस प्रकार का ध्यान करते हुए शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया। तदुपरान्त घनघाती कर्मों को क्षय कर कैवल्य ज्योति प्रकट की।

कतरा शास्त्र भण्या माप-तुष मुनि ? शास्त्र भणना जरूरी नहीं है। देह भिन्नता का वोध हो गया, यही ज्ञान मानव-जीवन की सार्थकता है। यह प्राप्त हो गया तो फिर वाजी हमारे हाथ होगी। ज्ञानी कहते हैं- उसने अपना रिजर्वेशन करा लिया। लेकिन ऐसा वोध किसी के कहने या वहुत पढ़ने से नहीं होता। अपने अन्तर में इसकी अनुभूति करनी पड़ती है। जिस क्षण अन्तर्मन से यह स्वर निकले, वह क्षण होगा सार्थकता का। उन अनुभूतियों में स्वयं को डुवाते-गहराते चले जायें। इसलिये कहा गया है- श्रावक तीन मनोरथ का चिन्तन करे, (१) वह दिन धन्य होगा, जव आरंभ-परिग्रह का त्याग करूँगा, (२) वह दिन धन्य होगा, जव पाँच महाव्रत धारण करूँगा, (३) वह दिन धन्य होगा, जव संलेखना-संथारा सहित पंडित

मरण की आराधना करूँगा । उसी के साथ बारह भावनाएँ बताई गई हैं, उनका पिछली रात्रि में, ब्रह्ममुहूर्त में, सूर्योदय से दो घंटे पूर्व चिन्तन करें । उस समय वातावरण शांत होता है, मन का चरखा भी विश्राम करके शांत हो जाता हैं और शक्ति अर्जित कर लेता है । उस उर्वरा शक्ति से कुछ प्राप्त कर पाने की संभावना बनती है । जो निरन्तर इस प्रकार चिन्तन करता है, वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है । पिछली रात्रि में धर्म जागरणा करें अर्थात् मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? शरीर क्या है ? ऐसे चिन्तन की गहराई में उतरें, गहरे में पैठे । मानव-जीवन की सार्थकता किसी भी धर्म ग्रन्थ को उठाकर देखी जा सकती है । नर भव का यह चोला दुर्लभ है, इसे व्यर्थ नहीं खोना है । यह किसी उद्देश्य से मिला है । यह सदा न रहा है, न रहेगा । इसके रहते सार प्राप्त कर लो, नहीं तो सामने ८४ का चक्र खुला है, उससे बचा नहीं जा सकेगा । यदि मन करता हो, एक-दो चक्कर और ले लूँ तो बात अलग है । मनुष्य को समझ लेना चाहिये कि परम सौभाग्य से उसे नर भव मिला है । यह आत्मोत्थान का अनुपम अवसर है । 'वेला रां वाया मोती निपजे ।' अवसर निकल गया तो हाथ मलते रह जाओगे । पानी बह जायेगा, हम रीते रह जायेंगे । यह भी समझ लें कि ऐसे अवसर जब शरीर की नश्वरता और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान मिलता है और स्वयं में उसकी अनुभूति होती है, दुर्लभ हैं । ऐसे अवसर आते हैं पर कभी-कभी । न जाने कितने जन्मों के बाद यह मुहूर्त मिला है । ये बारबार नहीं मिलेगा, अतः अभी ही इसका लाभ उठाना है । यदि निर्णायक कदम उठा कर आगे बढ़ गये तो एक दिन चरम पद अवश्य प्राप्त कर लेंगे । परन्तु आत्मनिष्ठा को कभी न छोड़े, न मानवता का त्याग करें, क्योंकि इनके समन्वय से ही वह बुद्धि उपजी है, जो सम्यक् दिशा में गति की प्रेरणा देती है ।

दिनांक : ३०.१२.१९९६, डूंगला

८. वीतराग वाणी का वरदान

हम कहते हैं कि चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की दिव्य देशना भव्यात्माओं के लिये कल्याणकारी है, तब क्या यह समझें कि वह अन्य लोगों के लिये कल्याणकारी नहीं हैं ? कल्याणकारी वस्तु तो सभी के लिये कल्याणकारी होनी चाहिये । जैसे मिठाई, गुड़ या शक्कर, जो खाये उसे मीठी ही लगती है । फिर वितराग वाणी के लिये बीच में यह शब्द प्रयोग क्यों किया गया कि यह भव्यों के लिये कल्याणकारी है ? क्या अन्य किसी के लिये कल्याणकारी भी है ? यदि नहीं है तो ऐसा क्यों नहीं कहा जाता कि यह प्राणी मात्र के लिये कल्याणकारी है ? वैसा नहीं कहा जा सकता था । क्यों नहीं ? इसके पीछे छिपे कारण को समझें । जो मलेरिया से पीड़ित है अथवा तेज ज्वर है, उसे कोई गेहूँ की रोटी दे तो रोटी कड़वी नहीं है, पर उसे कड़वी लगती है । नीम दूसरों को कड़वा लगता है पर जिसके शरीर में जहर है, उसे मीठा लगता है । वैसे ही जिन प्राणियों में संसार के विकार हैं, उन्हें यह कल्याणकारी वाणी भी कड़वी लगती है । जिनकी जिह्वा में विपरीत गुण है, वे कड़वे को मीठा और मीठे को कड़वा अनुभूत करते हैं । वैसे ही यह वीतराग वाणी भले ही अभव्यों के सामने आ भी जाय तो भी उससे वे अपना कल्याण नहीं कर पायेंगे । इसलिये कहा गया है कि यह वाणी भव्यों के लिये कल्याणकारी है, यद्यपि यह अन्य जनों के लिये भी अकल्याणकारी नहीं, पर उनके लिये यह महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि वे इसका लाभ नहीं उठा पाते । है तो भी महत्त्व नहीं, नहीं रहे तो भी महत्त्व नहीं । उनके ऊपर से मिथ्यात्व का पुट जो हटने वाला नहीं होता । इसी दृष्टि से कहा गया कि- यह तीर्थंकरों की वाणी भव्यों के लिये कल्याणकारी है ।

प्रभु महावीर ने प्राणियों के लिये चार अंग दुर्लभ बताये हैं। ये परम अंग हैं- "माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।" माणुसत्तं- मुख्य बात है- मनुष्यपणा, क्योंकि यदि मनुष्यपणा नहीं है तो किसी भिन्न मार्ग से मुक्ति-मार्ग के पथिक बनना संभव नहीं होगा। कोई कह सकता है कि पशु में मनुष्यपणा नहीं है फिर भी वे पथिक होते हैं। यद्यपि उनका पथिक होना केवल रास्ते पर चलने के अर्थ तक ही सीमित है। मनुष्यता के अन्य गुण उसमें नहीं होते। मानव बुद्धि अथवा समझ ही नहीं है तो वाणी सुनकर क्या लाभ उठा पायेंगे ? जो सुनना हो सकता है, वह भी भौतिक होगा, कानों से किन्तु वह हृदय, मन एवं आत्मा को भिगो नहीं पायेगा, न जीवन को पवित्र ही कर पायेगा। एक सुनना होता है, जिससे आत्मा पवित्र हो जाती है। एक दृष्टान्त है- किसी राजकुमार ने प्रभु महावीर के दर्शन किये, अपनी माता से निवेदन किया- माता ! मैंने भगवान् के दर्शन किये। माता ने कहा- वत्स, तेरे नेत्र पवित्र हुए। उसने आगे कहा- मैंने भगवान् की वाणी सुनी। माता ने कहा- तेरे कान पवित्र हुए। परन्तु जब उसने कहा- मैंने उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न किया तो माता ने कहा- तेरा जीवन पवित्र हो गया। जब तक हम देखते हैं, तब तक वह नेत्र का विषय रहता है, जब तक केवल आवाज सुनते हैं, वह कान का विषय रहता है। हो सकता है, सुनने में अच्छा लग रहा हो, मनोरंजन हो रहा हो, वैसे ही जैसे पक्षियों का कूँजन होता है, अच्छा लग रहा है, इसलिये सुन रहे हैं। मूल शास्त्र का पठन यदि हो रहा हो तो हो सकता है कि लोग चित्रवत् बैठे रहें। कुछ उठकर रवाना भी हो सकते हैं कि हमें तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है- यह प्राकृत उच्चारण हम केवल कानों से न सुनें। सुनने का अर्थ है कि हम कुछ सार प्राप्त कर रहे हैं। सुनने की एक पद्धति है। भगवती सूत्र में आया है- 'सवणे णाणे विण्णाणे।' श्रवण केवल श्रवण करना नहीं है, वह श्रवण की गई वस्तु को आगे ज्ञान की, विज्ञान की अवस्था तक पहुँचाना है। विज्ञान का तात्पर्य है- विशिष्ट ज्ञान। इस दृष्टि से आज भ्रांति में हैं। आज हम केवल बाह्य भौतिक विज्ञान को विज्ञान

कहते हैं । जबकि वह है भौतिक पदार्थ का अन्वेषण । यदि हम भी तीर्थंकर की वाणी का अनुसंधान करें तो वैसे ही वैज्ञानिक तकनीक के माध्यम से आत्मनिष्ठ होने के संकेत पा सकते हैं । जब तक हम खोज अथवा अन्वेषण नहीं करेंगे, तब तक रुचि नहीं जगेगी और हम आगे नहीं बढ़ पायेंगे । भोजन करने बैठते हैं तो भोजन की रुचि होती है और यदि रुचि वाले पदार्थ ही सामने आ जाएँ तो आनन्द आ जाता है । किन्तु यदि भोजन की रुचि नहीं है तो चाहे आपकी प्रिय वस्तुएँ ही सामने क्यों न परोस दी जायें और खिलाने वाला आपको खूब प्रेम-सत्कार से खिलाये कि नहीं-नहीं, आपको आरोगना ही पड़ेगा, पर मन खाने के लिये बनेगा नहीं । आप उनका मन रखने के लिये दो-चार कवल ले भी लें पर खाना अच्छा नहीं लगेगा, वैसे ही भीतर रुचि नहीं है तो अंदर भी प्रवृत्ति नहीं बन पायेगी । विचारणीय है कि रुचि कैसे जगे ? कैसे हमें लगे कि कहीं से हम कुछ प्राप्त कर रहे हैं ? हम आत्मा के रूप की स्थिति से अनुसन्धान करते हैं तो चिन्तन में हमें कुछ नयापन लगता है, ऐसा इसलिये है क्योंकि व्यक्ति नयेपन के प्रति स्वभावतः ही आकर्षित होता है । यदि नयापन न मिले तो ऊब कर कह देता है- यह तो रोज का ढर्रा है । वैज्ञानिकों को खोज में यदि नये सूत्र न मिलें तो वे खोज में समय ही नहीं लगायेंगे । परन्तु नये सूत्र मिले तो वे आगे बढ़ते जाते हैं । यही स्थिति आत्मा की खोज के संबंध में हैं । आत्मा की खोज में वीतराग वाणी के माध्यम से भीतर उतरने में कुछ प्राप्त होता है तो फिर रुचि जागती है और अधिक गहराई तक अवगाहन करने का प्रयत्न होता है । इसलिये कहा जाता है- श्रुति बाद में, पहले श्रद्धान होना चाहिये । मान लीजिये सुन लिया और रुचि भी जगी पर दृढ़ आस्था उत्पन्न नहीं हुई, विश्वास नहीं जगा तो आत्मा की खोज का कार्य नहीं सधेगा । नीतिकारों ने कहा है- 'विश्वासो फल दायकः ।' यदि विश्वास हिल गया, श्रद्धा हिल गई, नींव मजबूत नहीं रही तो मकान सुदृढ़ नहीं रहेगा । नीचे की नींव हिल गई तो ऊपर की छत सुदृढ़ नहीं रह सकती । इसलिये मनुष्यत्व और श्रुति को तो दुर्लभ कहा ही है किन्तु श्रद्धा

को परम दुर्लभ कहा गया है । कारण यही है कि वह नींव है । नींव मजबूत है तो मकान की मजबूती बनी रहती है । नींव मजबूत नहीं तो ऊपर मकान कितना ही मजबूत बना लो, पर वह टिक नहीं पायेगा । व्यक्ति के पैर नहीं जमें हैं तो शरीर का बैलेन्स ठीक नहीं रहेगा । पैर जमा कर नहीं रखे और अचानक चलते-चलते लचक आ गई तो हाथ में लकड़ी का सहारा लेना पड़ेगा । दीवार का या लकड़ी का सहारा नहीं मिले तो शरीर गिर पड़ेगा । वैसे ही यदि हमें चारित्र रूपी महल का निर्माण करना है और हम चाहते हैं कि वह महल मजबूत हो तो पहले श्रद्धा को दृढ़ करें । श्रद्धा के बारे में कहा गया है- 'सद्धा परम दुल्लहा ।' अतः पहले दृढ़ विश्वास होना चाहिये । विश्वास कागज का फूल नहीं हैं कि वर्षा का पानी गिरा तो गल गया । आपने देखा होगा कि कपड़ों में डालने की जो नील होती है, उससे किसी ने मकान की पुताई करा दी तो वह नील कब तक चमकती रहेगी ? उसका रंग कब तक रहेगा ? केवल तक तक, जब तक पानी न गिर जाय । एक तेज बारिश हुई कि नील का रंग धुल जायेगा । पूरा साफ नहीं भी हुआ तो रेले बह जायेंगे, धब्बे पड़ जायेंगे और मकान के रंग को बदरंग कर देंगे । वैसी ही यदि श्रद्धा का रंग नहीं रहा, धर्म के प्रति गहरी आस्था नहीं रही तो महल दृढ़ नहीं रह सकेगा । श्रद्धा के लिये कहा गया है- 'श्रद्धा है, सार-वार, श्रद्धा से खेवो पार ।' आजकल तो नहीं, पर पहले गाया करते थे-

कैसे करे केतकी, कनेर एक कयो जाय,
आक दूध, गाय दूध, अंतर घणेरो है...।

पीतल भी पीला है, सोना भी पीला है परन्तु कोई सोने की कीमत पर आपको पीतल देना चाहे तो क्या आप ले लेंगे ? पीला-पीला ही तो दे रहा है । दूकान में आप किराना तुलाते हैं और तोलने के बाद कहते हैं- दुकानदार से, थोड़ा तो और डाल दो । वह भी मन रखने के लिये डाल देता है तो क्या वैसे ही सोना भी डाल देता है ? यदि कोई सोने के बदले पीतल दे रहा है और थोड़ा ज्यादा तौल दे तो आप सोचेंगे, दुकानदार

कितना दयालु है । दस के वदले वारह ग्राम देने लगे तो मन में क्या होगा ? संदेह उत्पन्न होगा । दस ग्राम का पैसा दे रहा हूँ और यह वारह ग्राम दे रहा है तो इसका मतलव है कहीं न कहीं खोट है । आप कितने चतुर हैं । आप वात को पकड़ कर अंतर की गहराई में जाते हैं किन्तु जब धर्म की वात आती है, उस समय पता नहीं, यह चतुराई कहाँ चली जाती हैं ।

एक कहावत है- 'दो पैसे में हाँडी लावे, ठोला मारे चार ।' किन्तु जब देव, गुरु, धर्म पर विश्वास की वात आती है, तव परीक्षा करते हैं या नहीं ? परीक्षण-बुद्धि होनी चाहिये । परीक्षण बुद्धि नहीं तो कैसे श्रुति से अनुभूति कर पायेंगे, कैसे श्रद्धा दृढ़ कर पायेंगे ? सोने और पीतल की परख करना तो नहीं जानते, पर पहचान करना चाहें तो कर सकते हैं । पीतल पर हथौड़ी का प्रहार करें तो वह खन-खन वोलेगा, पर सोने पर ऐसा ही प्रहार पड़े तो क्या वह भी लोह के पतड़ों की भाँति धड़ा-धड़ वोलेगा ? ऊपर जो टीन के पतड़े हैं, वर्षा हो जाय तो संतों की वाणी सुनने में भी वाधा पैदा होगी, परन्तु उधर स्वर्णकार जब घन पर स्वर्ण को पीटता है, तव हथौड़े की घन पर टकराहट की आवाज तो आती है, पर सोने की नहीं । सोने को आग में डालकर देखिये, यदि उसे तार-तार कर दिया तो तार से तार निकलता चला जायेगा, पर तार टूटेगा नहीं । कहा भी है-

तांवा सोना सुघड़ नर, टूटे-जुड़े सौ वार ।
मूरख, हांडी कुम्हार की, जुड़े न दूजी वार ।।

पीतल की कीमत नहीं, सोने की कीमत है, क्योंकि पीतल चोट सहन नहीं कर सकता । स्वर्ण सहना जानता है । सहनशीलता नहीं है तो धर्म की नींव मजबूत नहीं रहेगी । नींव मजबूत है तो एकदम विचलित नहीं होगा, सहनशीलता आयेगी । यदि सहनशीलता ही नहीं हैं तो भीतर की धातु को श्रेष्ठ नहीं वना पायेंगे, फिर धर्म वहाँ कैसे आयेगा ? कहते हैं- शेरनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही टिकता है, यदि स्वर्ण में गुण नहीं होते तो टिकता कैसे ? वैसे ही हमारे भीतर की धातु यदि स्वर्ण की भाँति श्रेष्ठ नहीं

है तो धर्म रूपी दूध उसमें कैसे टिक पायेगा ? कोई अन्य धातु है तो वह भद्भद् करने लगेगा। उसके लिये पहले भीतर की धातु को स्वर्ण के समान बनाना पड़ेगा। यदि हृदय में वैसी तैयारी है तो धर्म रूप दूध ग्रहण करिये। धर्म का तात्पर्य है- आत्मा का स्वभाव। वह कहाँ टिकता है, उस संबंध में कहा गया है- 'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।'

किन्तु उस हेतु श्रद्धा रूप पहला गुण होना चाहिये। वह नहीं हैं तो चारित्र की हवेली या महल टिकेगा नहीं ढ़ह जायेगा। श्रद्धा दृढ़ होनी चाहिये, रसायन के रूप में होनी चाहिये। श्रद्धा के श्रेष्ठ होने का लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार बताया गया है-

सो ही उज्जुय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

पात्र की शुद्धता होनी चाहिये। उसके शुद्ध हुए बिना दूध डाला तो वह विकृत हो जायेगा। एक भाई दूध लेने डेयरी पर जाता है, उसके बर्तन में पहले से ही अम्ल पड़ा है। यदि दूध देने वाला उसी में दूध उंडेल दे तो पहले से रहा हुआ नींबू का रस, उस दूध को फाड़ देगा। कभी छाछ के बर्तन में दूध डाल दें तो क्या दही जम जायेगा ? छाछ ज्यादा है तो दूध जमेगा नहीं और न ही वह दूध रहेगा। वैसे ही भीतर शुद्धता, सरलता नहीं है तो वहाँ धर्म रूपी तत्त्व का प्रवेश होगा नहीं। प्रवेश कराया भी तो श्रद्धान के बिना शुद्धि नहीं रहेगी। नींबू है तब तक दूध को ठीक नहीं रखा जा सकता। धर्म वहीं टिक सकता है, जहाँ काम-विकार नहीं है, दूसरी वासनाएँ हैं तो भी धर्म टिक नहीं पायेगा। जब तक पात्र में खटाई है, तब तक ऊपर से कितना ही दूध उंडेलते रहो, वह फटता ही जायेगा। कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति दूध पीता है और तत्काल वमन की स्थिति बन जाती है तो पुनः क्या दूध ही बाहर निकलेगा ? तत्काल पिया है, किन्तु वमन में वह फटा हुआ निकलेगा। हमारे भीतर एसिड भरा है, वह दूध को फाड़ देता है। छोटे वच्चों को दूध पिलाकर लायें, उसे बराबर न रखें और वह वमन करे तो दूध नहीं निकलता, पचके निकलते हैं। भीतर के एसिड

से वह दूध फट जाता है । वैसे ही यदि श्रद्धा डांवाडोल है या भिन्न अवस्थान है, मिथ्यात्व-मोहनीय या अनन्तानुबंधी चतुष्क का उदय है तो वहाँ धर्म का सही रूप नहीं रह पायेगा । श्रद्धा गहरी होनी चाहिये, चाहे जैसी परिस्थिति आये पर वह डिगे नहीं । श्रेणिक महाराज, कृष्ण वासुदेव और कामदेव श्रावक विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित न हुए, न उनकी श्रद्धा में न्यूनता ही आई । यदि नींव मजबूत है तो कोई कितना भी प्रयास कर लें, मकान को गिरा नहीं पायेगा । चाहे आँधी-तूफान आ जाये, पर मकान खड़ा रहेगा, नहीं तो ऊपर के पतडें, जिनकी नींव नहीं है, जो खंभों पर टिके हैं, तूफान आया कि खंभों समेत टीनों को उडा ले जायेगा । इसी प्रकार यदि हमारे श्रद्धान की नींव मजबूत नहीं है तो माया-मोह का अंधड़ आने पर चारित्र रूपी महल सुरक्षित नहीं रह पायेगा । यद्यपि श्रद्धा परम दुर्लभ है तथापि यदि वह मजबूत हो तो श्रवण से आगे ज्ञान-विज्ञान में प्रवेश होगा, फिर आगे चारित्र का निर्माण होगा । 'संजमम्मि य वीरियं' तत्पश्चात् के पुरुषार्थी को सफलता मिलेगी ।

प्रश्न होगा- श्रद्धा के लिये श्रवण की क्या जरूरत है ? समाधान यह है कि बिना सुने ज्ञान-विज्ञान दृढ़ नहीं होगा, परिणाम स्वरूप श्रद्धा भी मजबूत नहीं होगी । श्रद्धा के मकान को मजबूत करना है तो सुनना पड़ेगा । जैसे दीवार मजबूत बनाने के लिये ईटों के बीच सीमेन्ट से जुड़ाई करनी आवश्यक होती है, वैसे ही श्रद्धा की मजबूती के लिये सुनना आवश्यक है । इसीलिये साधु से कहा गया है कि वह प्रतिदिन स्वाध्याय-ध्यान करे । वह यह न सोचे कि रोज क्यों करें, एक बार तो शास्त्र पढ़ लिये, रोज-रोज पढ़ कर क्या करना ? ऐसा सोच ही दोष पूर्ण होगा, क्योंकि जिस प्रकार समय और मौसम की मार से दीवार प्रभावित होती रहती है, ईटें कमजोर होती रहती हैं और उन्हें जोड़े रखने वाला सीमेन्ट प्लास्टर जर्जरित होता रहता है, उसी प्रकार समय और परिस्थितियाँ ज्ञान, विज्ञान और चरित्र को गहराई से प्रभावित करती रहती हैं और जिस प्रकार नित्य प्रति की देखभाल तथा समय-समय पर की गई मरम्मत से दीवार पूर्व की

भाँति ही सुदृढ़ बनी रहती है, वैसे ही नित्य प्रति के स्वाध्याय-ध्यान
परिस्थितियों का परिवर्तन ज्ञान, विज्ञान और चरित्र को कमजोर नहीं हो
देता, साथ ही शास्त्रों के पारायण की मरम्मत उन्हें पूर्ववत् ही दृढ़ बना
रखती हैं । जिस प्रकार यदि दीवार की नींव मजबूत है और समय-सम
पर किये गये मरम्मत के कार्य, उसे स्थिर और सुदृढ़ रखते हैं तो भवन
स्थिर और सुदृढ़ बना खड़ा रहता है, उसी प्रकार यदि नित्य प्रति
स्वाध्याय आदि के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान को पुष्ट रखें तो दृढ़ श्रद्धा
नींव पर निर्मित धर्म का भवन स्थिर और दृढ़ बना खड़ा रहता है । इसलि
यह आवश्यक है कि यदि व्रती के मन, वचन, काया के योगों में छेद हो ग
हो, न्यूनता आ गई हो तो स्वाध्याय-ध्यान से उन छिद्रों को बंद कर दें
श्रद्धा की नींव मजबूत है तो हमारी आत्मा वहाँ खतरे से खाली है
सुरक्षित है क्योंकि चारित्र रूपी महल में श्रद्धा की नींव है, इस संबंध
भगवती सूत्र में दो बात कही गई हैं, वहाँ संवुडा अणगार, असंवुडा अणगा
का कथन है ।

असंवुडा अणगार वह है- जिसने अपने जीवन में आस्रवों को रोक
नहीं है । उसके सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो सकने के संदर्भ में भगवान् ने कहा है
'णो इणट्ठे समट्ठे' अर्थात् यह अर्थ-समर्थ नहीं है । संवृत अणगार सिद्ध
बुद्ध, मुक्त हो सकता है तथा सभी दुःखों का अंत कर सकता है । गौत
स्वामी के पूछने पर भगवान् ने उत्तर दिया था कि संवृत अणगार, जो सा
प्रकृतियाँ बँधी हुई है, उनके तीव्र रस को मंद रस करता है, दीर्घ स्थिति क
अल्प करता है, बहुत प्रदेशों को अल्प करता है, आयुष्य नहीं बाँधता
तथा असाता वेदनीय कर्म बार-बार नहीं बाँधता, क्योंकि उसने आस्रवों क
रोक लिया है ।

नींव की मजबूती के बिना आस्रव द्वारों को रोका नहीं जा सकता
आप यदि सोचें कि वहाँ श्रद्धा की तो बात है ही नहीं तो समझ लें कि जह
मिथ्यात्व है, वहाँ आस्रव चालू है, उसकी छत गिरी तो दब कर मर जाओगे
संसार बढ़ेगा, परन्तु जहाँ नींव मजबूत है, वहाँ खतरा नहीं है । ऐसा व्यक्ति

चारित्र को बढ़ाता है- सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार हो जाता है, क्योंकि स्थिति अल्प रह गई होती है और रस मंद हो गये होते हैं। उसने प्रदेशों को कम कर लिया होता है, फिर उन्हें भी धीरे-धीरे तपाता है और शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर लेता है। चारित्र मोहनीय की सारी प्रकृति का क्षय होते ही शुद्ध स्वरूप उजागर हो जाता है। फिर उसे न नींद सताती हैं, न विषय-विकार ही सताते हैं। इसलिये- 'उट्ठिए णो पमायए', उठो ! प्रमाद मत करो। हम बहुत समय प्रमाद करते रहे हैं और अमूल्य समय गंवा चुके हैं। यह भी समझ लें कि 'जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।' अर्थात् जो-जो रात्रियाँ बीत गई हैं, अब उन्हें चाहें कि करोड़ रुपये देकर खरीद लें तो नहीं खरीद सकते। दो-चार करोड़ तो क्या सारी संपत्ति देकर भी बीता समय लौटाया नहीं जा सकता। इसलिये 'बीती ताहिं विसार दे' के अनुसार समझ लें कि जो चला गया, उस पर रोने से कुछ नहीं होगा। इसलिये उठो, जागो और मोह की खतरनाक नींद को उड़ाओ। जो इस शुभ अवसर का लाभ उठा ले, उसी की बलिहारी है। वीतराग वाणी मार्गदर्शन के लिये हमारे पास मौजूद है। इसे यों समझें- एक सेठजी ने चाबियों का गुच्छा मुनीमजी को संभलाया कि इसे संभाल कर रखना, किन्तु मेनगेट की चाबी सेठजी ने अपने पास ही रख ली। मुनीमजी को आदेश दिया- सामान लाओ। मुनीमजी ने सभी चाबियाँ लगा कर देखलीं परन्तु मेनगेट ही नहीं खुला। तब मुनीम ने कहा- "सेठजी ! ये चाबियाँ तो लगती ही नहीं।" हमारी भी कुछ ऐसी ही दशा है। असली चाबी का तो पता नहीं, केवल गुच्छा लेकर घूम रहे हैं। गलत चाबियों से क्या ताला खुलेगा ? श्रद्धा दृढ़ है, मूल चाबी है तो उसे एक बार लगाते ही ताला खुल जायेगा और भीतर प्रवेश हो सकेगा। लेकिन हम तो बाहर ही बाहर घूम रहे हैं। दूसरी-दूसरी चाबियाँ घुमा रहे हैं, पर वे तो लगेंगी नहीं। क्रोध, मान, माया जैसी चाबियाँ भले घुमाते रहें, ताला खुलने वाला नहीं है। मूल चाबी है- 'सो ही उज्जुय भूयस्स।' इसे लगाओ तो ताला खुलेगा और अंतर्प्रवेश होगा। अभी तो स्थिति यह है-

हम तो कबहुं न निज घर आये,
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ।

बहुत समय बीत गया, मगर अपने घर नहीं आये, दूसरों के घरों में फिरते रहे । मूल चाबी हाथ नहीं आई । गुच्छा सामने हैं, पर मूल चाबी उसमें नहीं है । अतः सरल बनें, गरल अर्थात् वक्र नहीं । कहा है- 'सोही उज्जुय भूयस्स' सरल बनो, गरल नहीं । सर्प बिल में जाते समय सरल होता है तो इसका यह मतलब नहीं कि उसमें गरल नहीं हैं । उसमें टेढ़ापन तो है ही । जब तक गरल है, तब तक द्वार खुल नहीं पायेंगे । सर्प भी जानता है, घर में प्रवेश करना है तो सरल होना पड़ेगा । जब सरल नहीं होंगे ताला नहीं खुलेगा, प्रवेश नहीं होगा । भगवान् महावीर के एक-एक सूत्र को हृदयंगम करें । उन्हीं से मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा, वे ही मूल चाबी का काम करेंगे, वह चाबी हाथ में आते ही भीतर प्रवेश की संभावना बन जायेगी, परन्तु यदि दूसरी चाबी टटोलते रहे, मूल का पता नहीं किया तो द्वार खुलेगा नहीं, फिर भीतर प्रवेश की बात कैसे होगी ? देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा एवं लगाव दृढ़ हो और किसी भी परिस्थिति में वह विचलित न हो तो चारित्र का महल सुरक्षित रहेगा ।

दिनांक : ३१.१२.१९९९, डूंगला

९. प्रभु-दर्शन की प्यास

"अभिनन्दन जिन दर्शन...." पद के माध्यम से कवि आनंदघनजी ने प्रभु के दर्शनों की उत्कट इच्छा व्यक्त की है। आनंदघनजी ही क्यों ? प्रत्येक व्यक्ति की यह चाह होती है, उसे परमात्मा के दर्शन हो जायें। आनंदघनजी तो स्तुति कर रहे हैं- मेरी भगवान् के दर्शनों की बड़ी लालसा है। ये नेत्र प्यासे हैं, इनकी दर्शनों की प्यास बुझी नहीं है। उमंग है कि परमात्मा के दर्शन हो जाय। वह इधर-उधर खोज भी करता है पर परमात्मा जब कहीं नहीं मिलता, तब कहता है- दर्शन दुर्लभ है, मैंने बहुत ढूँढ़ा पर कहीं दर्शन होते नहीं हैं, परन्तु बाहर ढूँढ़ने से क्या होगा ? कबीर ने कहा है-

मोकों कहा ढूँढ़ता बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं छगरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं घुरा गँडास में।
ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबे, कैलाश में।।

कभी-कभी कह दिया जाता है कि यदि भगवान् का पता मिल जाता तो हम भगवान् को पत्र भेजते। पत्र भेजना है तो ठिकाना चाहिये। क्या कोई परमात्मा का ठिकाना बता सकता हैं ? भक्त नरसी मेहता को तो ठिकाना मिल गया था, उनका तो काम सध गया था, पर हमें ठिकाना नहीं मिलता।

'भगवान् तुम्हें मैं खत लिखता, पर तेरा पता मालूम नहीं।' खत में क्या लिखते, यह तो मालूम नहीं और कुछ नहीं लिखना होता तो नये वर्ष की शुभकामना ही भेज देतें कि आपकी गादी सदा बनी रहे। इस प्रकार हम मन को खुश करते हैं। कोई दीपावली से नया वर्ष मानता है, कोई चैत्र

सुदी से, कोई राम नवमी से तो कोई एक जनवरी से । किन्तु सरकार के आर्थिक नववर्ष का प्रारंभ तो एक अप्रैल से होता है । उस समय व्यपारियों के हृदयों की धड़कन बेतहाशा बढ़ जाती है । 'मार्च एण्ड' आ रहा है तो हमें फुर्सत नहीं है । अभी तो काम बढ़ा है, सामायिक भी नहीं हो रही हैं । भगवान् का कोई ठिकाना नहीं हैं, पर परमात्मा दूर भी नहीं हैं, भले ही हम कहें कि हमें परमात्मा का ठिकाना मालूम नहीं हैं पर यह तो वैसी ही बात होगी की-

कस्तूरी उर महं बसै, मृग ढूँढे बन माँहि ।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाहिं ।।

परमात्मा अज्ञात हो, यह बात अलग है, उसका अज्ञात होना भी हमारे ही अज्ञान की निशानी है । बीच में कोई पार्टीशन या दीवार खड़ी हो तो उस ओर की वस्तु नहीं दिखती । ऐसे ही माया-मोह वह दीवार है, जो हमें परमात्मा से दूर करती है । परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है, जैसा कि कवि ने कहा है-

मैं जानू हरि दूर है, हरि हिरदे के मांय ।
आडी टाटी कपट की, तासूं दिखत नाय ।।

चलो मान लेते हैं कि हरि दूर हैं पर वे मंदिर में तो हैं ? उन मंदिरों में दिया-बत्ती तो होती है और रोज दोनों समय होती है । पर मन मंदिरों में दिया-बत्ती कब-कब होती है ? मंदिरों में तो दोनों समय आरती और दिया-बत्ती होती है । पर मन मंदिरों में किन समयों में दिया-बत्ती होती है, यह पता नहीं । उनका द्वार भी कभी खोला या नहीं ? उसमें विराजित मूर्ति की क्या दशा है, यह भी ज्ञात किया या नहीं ? तब सच तो यह है कि हम बाहर के मंदिरों में उलझ रहे हैं, वहाँ तो दीप से प्रकाश की बात करते हैं पर जहाँ हृदय मंदिर की बात है, जो सब के पास है, उसका कभी दरवाजा खटखटाते ही नहीं । खोलने का काम ही नहीं करते । खोले नहीं तो दर्शन कैसे हो पायेंगे ? आज मनुष्य जिस प्रकार से छल-प्रपंच, दंभ में जी रहा

है, उसकी अपनी आत्मा के सामने जैसे किसी संगीन शिला का निर्माण कर दिया है। मकान के ऊपर यदि आप शिला लगाते हैं या मकान के चारों ओर पट्टी की दीवार बना देते हैं तो भीतर का हिस्सा नहीं दिखेगा। परन्तु यदि काँच लगा हो तो अंदर 'शो केस' में रखी हुई वस्तुएँ बाहर से ही दिख जायेगी पर पट्टी के भीतर की वस्तुएँ नहीं दिखाई देगी। हमने भी हृदय के बाहर छल, दंभ, प्रपंच आदि की इतनी मोटी शिलाएँ कर ली हैं कि भीतर का परमात्मा हमें दिख नहीं पाता। उन शिलाओं को हटाकर काँच लगा दें तो दूर से ही परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे। पर यदि हाथ मिलाना चाहेंगे तो नहीं मिला पायेंगे। आप जानते हैं कि जहाँ बड़े राजनेता भाषण देते हैं, वहाँ उनके चारों ओर बुलेट प्रूफ ग्लास लगा होता है, जिसे भेद कर गोली भीतर प्रवेश नहीं कर पाती। यदि किसी को उनसे हाथ मिलाना है तो उस दीवार को भी हटाना होगा। इसी प्रकार भीतर के परमात्मा के दर्शन करने हैं तो उसके लिये भी बीच के आवरण- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय के आवरण को हटाना पड़ेगा, तभी परमात्मा का सीधा साक्षात्कार कर पायेंगे। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है-

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति।।

जो सबमें मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है, इससे मैं कभी भी अदृश्य नहीं हूँ। वे मुझ से अदृश्य नहीं हैं, क्योंकि वे सभी में भगवान् को देखते हैं, भगवान् के दर्शन करते हैं। हम सभी में भगवान् को नहीं देखते, इसीलिये हमारे से वे अदृश्य हैं। आज हम भीतर के परमात्मा को नहीं देख रहे हैं तो सिद्ध क्षेत्र में रहे परमात्मा को कैसे देख पायेंगे ? हमारे साथ तो राग-द्वेष के भाव जुड़े हुए हैं। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ झगड़े तैयार हैं। जब तक दूसरों के अधिकार पर हक जमाने का प्रयत्न होगा और जब तक हमारा मन इन कार्यों में लगा रहेगा, तब तक परमात्मा नहीं मिलेंगे।

गीता में कहा गया है कि 'मुझको सब में देखो, सब में मुझको देखो ।' इसी बात को भगवान् महावीर ने व्यापकतम परिवेश प्रदान कर आत्मा के संबंध में इस प्रकार कहा है- 'सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ ।' सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान देखो । जो सभी प्राणियों को अपने समान नहीं देखता, उसके संबंध में कहा गया है- वह देख ही नहीं रहा है । देखता कौन है ? हम आँखों से देखते हैं । पर केवल आँखों से देखना ही पर्याप्त नहीं हैं । अन्तर्चेतना से देखा जाना चाहिये, इसलिये कहा गया कि मनुष्य का जन्म मिला है तो कुछ करने के लिये, नर से नारायण बनने के लिये, मानव से मुक्त होने के लिये । यह चोला मिला है तो इसको सार्थक करना है । तेरी-मेरी बातों में नहीं गँवाना है । हमें परमात्मा की छवि स्वयं में निर्मित करनी है । नर से नारायण बन जाना है ।

परमात्मा के घर के द्वार खुले हैं, वहाँ कोई ताला नहीं लगा है, ताले में तो परमात्मा को बंद करना हमने सीखा हैं । मूर्ति को भगवान् मानकर बंद किया है । क्या परमात्मा हैं ? पर मानकर चलते हैं कि परमात्मा हैं, फिर भी ताला लगाते हैं । शायद भगवान् पर विश्वास नहीं । भगवान कहीं चले न जायें । वस्तुतः भगवान् के यहाँ कोई ताला नहीं है, जो चाहे वहाँ पहुँच सकता है ।

एक आख्यान है- विष्णुजी का दरबार लगा था । एक ओर भक्तों के नामों के लिस्ट लगी हुई थी, जिसमें भक्तों के नाम दर्ज थे । घूमते-घूमते नारद ऋषि भी वहाँ पहुँच गये । उनकी दृष्टि लिस्ट पर पडी, उन्होंने भी भक्तों की लिस्ट पर नजर डाली । वे यह देख कर चौंक गये कि उसमें उनका नाम ही नहीं था, जब कि वे अपने आप को भगवान् का अनन्यतम भक्त मानते थे । अतः विष्णुजी से नारदजी ने पूछा- भगवन् ! भक्तों की लिस्ट में मेरा नाम तो है ही नहीं । विष्णुजी ने कहा- समय आने पर उत्तर मिलेगा । कुछ दिन निकले, पुनः घूमत-घूमते नारदजी विष्णु लोक पहुँचे । सोचा- चलो, विष्णुजी के दर्शन कर लें । देखा विष्णुजी तड़प रहे थे, लोट-पोट हो रहे थे । नारदजी घबराए । विषाद पूर्ण मुद्रा में पूछा-

भगवन् ! यह क्या हो गया ? विष्णुजी ने उत्तर दिया- आओ, तुम ठीक समय पर आये, मेरे पेट में भयंकर पीड़ा हो रही है । नारदजी ने कहा- आप कहें तो वैद्यराज को बुला लें ? विष्णुजी ने कहा- वैद्य से काम नहीं होगा । नारदजी ने कहा- तो आप कहें उसे बुला लें । भगवान् ने कहा- कोई भी काम नहीं आयेगा । अब नारदजी चौंके, बोले- भगवन् ! आप स्वयं ज्ञाता हैं, जो इलाज हो, वह बता दीजिये, दवा लानी हो तो मैं ले आऊँगा । विष्णुजी ने कहा- दवा तो है, मैं जानता भी हूँ पर मिलना कठिन है । नारदजी ने कहा- ऐसी क्या बात है, मैं तीनों लोकों में तलाश करके ला सकता हूँ । विष्णुजी ने कहा- यह दर्द शूल का दर्द है, भयंकर पीड़ा हो रही है । इसका इलाज है, यदि किसी भक्त का हृदय मिल जाय तो यह दर्द शांत हो सकता है । नारदजी ने कहा- भगवन् ! मैं अभी गया और लेकर आया । वे अदृश्य होकर मृत्युलोक में पहुँचे । एक जगह देखा- सत्संग हो रहा था । कीर्तन चल रहा था, भगवान् की जय बोली जा रही थी । नारदजी ने सोचा- यहाँ मेरा काम हो जायेगा । सत्संग पूरा हुआ । संचालक महोदय को नारदजी ने एक स्लिप पकड़ा दी । नाम आया तो वे भी बोलने के लिये खड़े हुए और कहने लगे- मैं विष्णुलोक से आया हूँ । भगवान् के पेट में भयंकर पीड़ा हो रही है । उपचार के लिये भक्त का हृदय चाहिये । यहाँ सारे भक्त ही हैं, कोई भी अपना हृदय दे दें तो मैं भगवान् के पास ले जाऊँ ? उनकी बात सुनते ही सारे माहौल में सन्नाटा छा गया । अब तक जहाँ राग-रंग हो रहा था, जय-जयकार हो रही थी, वहाँ जैसे सभी को सांप सूंघ गया । कोई भक्त, हृदय देने को तैयार नहीं हुआ । कबीरजी ने कहा-

कबीरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि ।
शीश उतार भुई धरे, सो पैठे एहि माँहि ॥

यहाँ शीश देने का मतलब है- स्वयं को भगवान् के चरणों में अर्पित कर देना । शीश तन कर तब रहता है, जब अंहकार आता है, गर्दन के उपर का भाग तन जाता है । अहं को भगवान् के चरणों में गला दो, तब ही भक्ति होगी ।

नारदजी हताश होकर दूसरी जगह पहुँचे। वे अब कुंभ के मेले में थे, जहाँ लाखों भक्त दिखाई दे रहे थे। नारदजी डंके की चोट पर कहने लगे, मुझे भगवान् के उपचार के लिये एक भक्त का हृदय चाहिये। उनकी बात को लोगों ने अनसुना कर दिया। किसी ने कहा- रवाना हो जाओ, यहाँ हृदय मिलने वाला नहीं है। जहाँ-जहाँ सत्संग हो रहे थे, वहाँ-वहाँ नारदजी पहुँचे, पर कहीं भी, कोई भी हृदय देने के लिये तैयार नहीं मिला। नारदजी चिन्ता में पड़ गये, मैं तो कहकर आया था- एक क्या जितने चाहिये ला दूँ, अब कैसे मुँह दिखाऊँगा ? वे निराश हो गये, मुँह लटक गया, पैरों में जान नहीं रही। भीषण अवसाद से ग्रस्त लौट रहे थे। रास्ते में एक भील मिल गया। पूछा- आप उदास कैसे हैं ? नारदजी ने निराशा से उत्तर दिया- रहने दो भाई, सुनकर क्या करोगे ? उसने कहा- बताइये तो सही, बताने पर संभव है- इलाज हो जाये। नारदजी बोले- देख ली मैंने दुनियाँ, सभी स्वार्थी हैं, किसी को भगवान् की चिन्ता नहीं है। उसने पूछा- क्यों, क्या हुआ ? उत्तर मिला- सारे के सारे स्वार्थी हैं। जरा सोचिये कि क्या आप भी स्वार्थी हैं ? यदि नहीं तो फिर आप पैसा क्यों इकट्ठा कर रहे हैं। बिल्डिंग बनाने की क्या जरूरत है ? कोई भी सम्पत्ति क्या हम साथ ले जा सकेंगे ? पर हम ऐसा सोच नहीं पाते हैं। आँखों पर जो लोभ-मोह का चश्मा है। बीच में दीवार है, हम यथार्थ को देख ही नहीं रहे हैं। माया ने कितना सताया, दुःख दिया फिर भी हम उसी के चक्कर में पड़े हैं। कबीरदासजी ने ठीक ही कहा है-

माया मरी न मन मरा, मरि मरि गये शरीर।
आशा, तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर॥

संसार के न जाने कितने चक्कर लगाये और कितने लगाने हैं, पता ही नहीं। स्वयं को ही नहीं पहचाना है, इस तथ्य को जानकर अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानें। भील ने कहा- बताइये बात क्या है ? नारदजी ने उत्तर दिया- मैं आया था भगवान् विष्णु के लिये औषधी लेने पर कोई देने को तैयार ही नहीं हैं ! भील के बहुत आग्रह करने पर नारदजी ने बताया-

विष्णुजी के पेट में दर्द है और उपचार के लिये एक भक्त का हृदय चाहिये । भील ने तुरन्त कहा- आपने इतनी देर कैसे कर दी ? भगवान् के पेट में भयंकर पीड़ा हो रही होगी, आप मेरा हृदय ले जाईये, यदि आपके लिये हृदय निकाल पाना यहाँ संभव नहीं हैं तो मैं स्वयं चलने को तैयार हूँ । नारदजी के पैरों में पुनः गति आ गई । वे भील को साथ लेकर पहुँचे । बोले- भगवन् ! मैं ले आया । विष्णुजी ने पूछा- इतनी देर कैसे हो गई ? नारदजी ने उत्तर दिया- क्या बताऊँ इतनी जगह ढूंढ़ा, पर कोई मिला नहीं । विष्णुजी ने कहा- दूर-दूर तक ढूंढ़ते रहे क्या आपके पास हृदय नहीं था ? आप कहते हैं- मेरा नाम सूची में नहीं, अब आप समझ गये होंगे कि आपका नाम सूची में क्यों नहीं आया ।

प्रभु के भक्तों में नाम तो सभी लिखना चाहते हैं, पर वैसा कलेजा भी तो होना चाहिये । कई भाई आते हैं, पूछते हैं- महाराज ! मुझे पहचाना ? महाराज से पहचान कराना चाहते हैं या महाराज को पहचानना चाहते हैं ? हम आपकी पहचान करते रहें तो उससे आपका क्या लाभ होगा ? आप संतों की पहचान में लगेंगे तो आपको लाभ होगा, क्योंकि संतों की पहचान से अपने भीतर संतों के गुण विकसित करने के भाव जगेंगे । वैसे गुण विकसित करने में यदि आप सफल हुए तो आपका भविष्य सुधर जायेगा । अतः आप संतों से परिचय करें और त्याग के भाव जगायें । आप के परिचय से यदि नाम, गाँव आदि की जानकारी संतों को मिल भी जाय तो वह उनके या आपके किस काम की ? जब कि संतों से परिचय यदि करेंगे तो वे आपको भगवान् तक पहुँचा देंगे, जो दूरी परमात्मा के बीच में रही है, वह दूर होगी तो प्रभु नजर आ जायेंगे । नये वर्ष में नई क्रांति करनी है, यह समझ लें अतः नये परिवेश को पाने के लिये संकल्प करें । ऊपर का आवरण हटाएँ तो आत्म देव के दर्शन हो जायेंगे, फिर भगवान् के दर्शन भी दुर्लभ नहीं रहेंगे ।

कवि भी कह रहे है- मुझे दर्शन की प्यास लगी है । परन्तु पानी कोई पीना ही नहीं चाहता, तरीका ही मालूम नहीं तो प्यास बुझेगी कैसे ? आँखों

की प्यास मुँह से नहीं बुझेगी, वह आँख से ही बुझेगी । गले की प्यास मुँह से बुझ सकती है । पेट में गड़बड़ी है तो पानी पियें भी तो लाभ नहीं होगा । बीमारी न हो तो प्यास बुझ जायेगी । मारवाड़ में कहते हैं- झूठी प्यास भीतर की गड़बड़ी से लगती है, वह भगवान् के दर्शन नहीं कर पायेगी । उस प्यास की उत्कटता तो मीरां जैसी होनी चाहिये, जो गाती थी- "दरस बिन दूखण लागे नैणा ।" इस तरह अन्तर से यदि तैयारी होगी, जैसे भील की तैयारी थी तो फिर हम आत्म देव को जगा पायेंगे और उसका सान्निध्य प्राप्त कर पायेंगे । तदनंतर आनंद का स्रोत प्रवाहित होगा । मन-मंदिर में दीप जला पायेंगे, तब ही ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होगी । ऐसी ज्ञान की ज्योति जगाने के लिये मन में उत्कट भावना जागृत करें ।

दिनांक : १.१.१९९७ (नववर्ष), बिलोदा

१०. परमात्मा की खोज

मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है ? मोक्ष-प्राप्ति । भक्ति मार्ग के अनुयायी परमात्मा के दर्शन में इसी का लाभ देखते हैं । बात एक ही है- परमात्मा अर्थात् परम-आत्मा के दर्शन, आत्मा में स्थिति, भौतिक शरीर से मुक्ति, जनम-मरण के चक्कर से छुटकारा । इसीलिये मनुष्य की चाह रहती है कि परमात्मा के दर्शन हो जाय । वह परमात्मा की खोज भी करता है, परन्तु सभी मनुष्य खोजते ही हो, ऐसी बात नहीं है और सभी को वह मिल जाय, यह भी जरूरी नहीं है । विरला ही कोई भक्त होता है, जिसे परमात्मा से मिलने का अहसास होता है । कहते हैं तुलसी को राम के दर्शन हो गये थे । मीरां तो कृष्ण के प्रेम में ही सुध-बुध भूली हुई थी । रैदास, नरसी मेहता और चैतन्य जैसे भक्तों को उनके सान्निध्य की अनुभूति हुई थी । शुद्ध भक्ति में जाति या धर्म आड़े नहीं आता । इसीलिये कहते हैं-

'जात पात पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई ।'

जो हरि को भजता है, वह हरि का हो जाता है । इसमें भगवान् को कुछ लेना-देना नहीं है । यदि मन-मंदिर साफ नहीं है, वहाँ कचरा भरा है तो वहाँ भगवान् नहीं बैठेंगे, हृदय निर्मल है तो वहाँ परमात्मा का निवास होगा । यदि बाल्टी में निर्मल पानी भरा है तो उसमें मुँह दिख जायेगा, पर यदि किसी ने पानी में मिट्टी घोल दी तो मुँह नहीं दिखेगा । वैसे ही मन-मंदिर साफ है तो उसमें परमात्मा की झलक उभर आयेगी, मन-मंदिर साफ नहीं है तो ढूंढते रहो, परमात्मा मिलेंगे नहीं । बड़ी बात यह है कि मनुष्य भव में ही परमात्मा की खोज की जा सकती है और ईश्वरत्व प्राप्त किया जा सकता है । अन्य योनियों की बात क्या, देव योनि में भी मनुष्य

परमात्मा बन सके, यह संभव नहीं है । परमात्मा बनने की योग्यता मनुष्य योनि में जन्म लेकर हमने प्राप्त कर ली है । अब यदि हम पुरुषार्थ करें तो परमात्मा को हृदय में बिठा सकते हैं । कोई सोचे- अभी क्या जल्दी है, अभी तो जवानी है, मौज-शौक कर लें, बुढ़ापे में सोचेंगे । पर यह निश्चित तो नहीं है कि बूढ़े होने तक हम जिन्दा ही रहेंगे । जब हम जानते हैं कि मृत्यु को हम रोक नहीं सकते, फिर यह क्यों सोचें कि बुढ़ापे में ईश्वर में लौ लगा लेंगे ? अतः हमें समय रहते जागना हैं । भक्ति तो हम करते हैं, पर पहले मन को स्वच्छ करें । आसन ठीक नहीं है तो बिठायेंगे कहाँ ? जैसे घर में ठाकुरजी को बिठाने के लिये चौका लगाते हैं । बाहर तो करते हैं पर हृदय के ठाकुरजी के लिये चौका लगाया या नहीं ? वहाँ चौका गोबर-मिट्टी पानी से नहीं लगेगा । वहाँ चौका लगेगा सर्वात्मभाव की स्थापना से । अभिप्राय यह है कि जब हम प्रत्येक आत्मा में परमात्मा देखने लगेंगे, 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के भाव को अपनी भावना में साकार कर लेंगे और दूसरों के दुःख में दुःखी और दूसरों के सुख में सुखी होना सीख लेंगे, तभी हृदय के ठाकुरजी को बैठाने की व्यवस्था कर पायेंगे । गीता में कहा गया है- "ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व भूत हिते रतः" अर्थात् जिसकी प्राणियों के हित में रति हो जायेगी, वह भगवान् को प्राप्त हो जायेगा । यही तो भगवान् का 'दीनानाथ' भाव है । जिसका दूसरों को सुख पहुँचाने का भाव होता है, वह दूसरों को दुःखी देखकर आप स्वयं सुख भोग लें, ऐसा हो नहीं सकता । पड़ोस में रहने वाले को अन्न न मिले और हम बढ़िया-बढ़िया भोजन बना कर खायें, ऐसा अच्छे हृदय वालों से नहीं हो सकता । परन्तु जिनका स्वभाव दूसरों को दुःख देने का है, वे दूसरों का दुःख देखकर सुखी होते हैं । जो अपने सुख के लिये दूसरों को दुःखी बना देते हैं, वे मनुष्य नहीं पशु हैं । बल्कि यह कहना चाहिये कि पशुओं से भी बुरे हैं, क्योंकि पशु तो अपने पापों का फल भोग कर शुद्ध होते हैं, परन्तु दूसरों को दुःख देने वाले नये-नये पाप कर अपने लिये नरक का रास्ता तैयार करते हैं । इस प्रकार जिसके अंतःकरण में दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्नता पैदा नहीं

होती और दूसरों को दुःखी देखकर करुणा पैदा नहीं होती, उनका अंतःकरण मैला होता है और अंतःकरण नरक में ले जाता है ।

इसी के साथ मानवता की बात जुड़ती है, क्योंकि मनुष्य वही है, जो मनुष्य के समान आचरण करे, पशु के समान नहीं । दोनों का अंतर समझें-

यही पशु प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे ।
मनुष्य है वही कि जो मनुष्य के लिये मरे ।।

मनुष्य कुछ मूल्य लेकर चलता है, क्योंकि वह उनका पालन कर सकता है, पशु नहीं कर सकता । मनुष्य समाज के विकास और व्यवस्था में सहायक हो सकता है, इसीलिये मनुष्य के लिये धर्म-पालन का प्रावधान किया गया है । प्रेम, त्याग, करुणा, दया, उदारता जैसे गुण मानवीय गुण हैं, जो धर्म के अन्तर्गत भी आते हैं । दया-भाव को तो धर्म का मूल तक कह दिया गया है-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छांड़िये, जब लग घट में प्राण ।।

मन में दया भाव नहीं, फिर सोचें, परमात्मा मिल जाय, ऐसा कैसे हो सकता है ? जिन्दगी भर भगवान् को याद नहीं किया तो अंतिम समय में वे याद कैसे आयेंगे ?

'पापी के मुख से राम नहीं निकले ।'

एक सेठ था, बड़ी सेठाई की । बहुत से किसानों को पैसा उधार दिया । पैसा था, जिसे गरज होती, वे आते, कहते- सेठजी मजबूरी में हैं । कोई बैल खरीदने, कोई कहते बुआई करनी है, पैसा ले जाते । सेठ मजबूरी का नाजायज फायदा उठाता, मनमाना ब्याज लेता । यदि ठीक समय वसूली नहीं हुई तो उन पर कुर्की, नीलामी का वारंट ला देता । उनके खेत-खलिहान से माल उठा लाता । पर आखिर उस भव से छुटकारा होने वाला नहीं था । बुढ़ापा आ गया, मरणासन्न अवस्था में खाट पर पड़ा था ।

परिवार वाले इर्द-गिर्द बैठे थे । नब्ज की गति में फर्क आ गया । पुत्रों ने देखा- समय निकट आ गया है तो बड़े पुत्र ने कहा- पिताजी समय नजदीक आ गया है, भगवान् को याद कर लो । सेठ कहने लगे- ठीक समय पर तूने याद दिलाया । भगवाने से पैसे लेने हैं, देखो पूरी वसूली करना । ब्याज ५/- रुपये की दर से ले लेना, छोड़ना मत । पुत्र ने सोचा- मैं तो भगवान् को याद करने का कह रहा हूँ और ये भगवाने को याद कर रहे हैं । फिर कहा- पिताजी ! नारायण को याद करो । हाँ बेटे, उसे भी एक माह की मोहलत दी थी, समय निकल गया है, उसकी तो नीलामी करा देना । यह नारायण सुथार जल्दी देता ही नहीं । पुत्र ने कहा- पिताजी ! राम का नाम लो । बेटे, उसकी पूरी कार्रवाई हो चुकी है, सिर्फ कुर्की करवानी बाकी है । यह स्थिति होती है उस व्यक्ति की, जिसने सारा जीवन माया-मोह में गँवाया, भगवान् को कभी याद नहीं किया और परमार्थ की बात कभी नहीं सोची । ऐसे व्यक्ति का परलोक कैसे सुधर सकता है । उसका तो यह मनुष्य जन्न पाना भी सफल नहीं हुआ है । ऐसे लोगों के बारे में सच यह है कि मुट्ठी बाँधकर आये हैं, जायेंगे तो वह भी खुली रहेगी । विश्व विजेता का स्वप्न देखने वाले सिकन्दर ने भी इस सत्य को मृत्यु के समय ही समझा था, तभी अपने दोनों हाथ कफन के बाहर खुले रखे जाने का निर्देश दिया था-

क्या लाया था सिकन्दर, क्या ले गया जहाँ से ।
थे दोनों हाथ खाली, बाहर कफन से निकले ।।

कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति छाती पर बाँध कर नहीं ले जायेगा । पर मनुष्य सोचता नहीं है, अज्ञान में पड़कर जाने कैसे-कैसे कृत्य करता रहता है । इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं- मनुष्य जन्म मिला है, खोना मत, सुकृत करना-

मिनख जमारो भाई एलो मत खोवजे ।
सुकृत करले जमारा ने, केसर ढुल गई गारा में ।।

यदि जीवन का महत्त्व नहीं समझा और भैंस को आभूषण पहनाये तो वह सही नहीं होगा, लोग हम पर हँसेंगे । जो केशर को गारे में मिलाकर लिपाई करेंगे तो लोग मूर्ख ही कहेंगे । यह जीवन लाखीणा है, इसे यों ही नहीं गँवाना है ।

जीवन लाखीणो..., लाखीणो का तात्पर्य लक्षण वाला है, लाख रुपये वाला नहीं । कोई कहे लाख रुपये में संतान पैदा करा दो तो ऐसा नहीं कराया जा सकता । इस जीवन की कीमत लाख रुपये नहीं है बल्कि यह लक्षण वाला है । पशु का जीवन लाखीणा नहीं है पर वह घास की संगत से गोबर करता है, वह भी लोगों के लिये उपयोगी बन जाता है । मनुष्य में तो शक्ति होती है, भक्ति करके वह हृदय में परमात्मा को बिठा सकता है पर ऐसा नहीं करके स्वयं को लाखीणा मानें तो उसके मानने मात्र से वह लाखीणा नहीं हो सकता । सेठ ने निरन्तर पाप में स्वयं को लगाये रखा तो अंतिम समय में भी भगवान् याद नहीं आवे । कोई सोचे- दीवार पर लिख लूँ, अंतिम समय में पढ़ लूँगा और तिर जाऊँगा पर यदि रोशनी ही न रही तो पढ़ेंगे कैसे ? इसलिये जीवन में शुरू से ही धर्म करणी करते रहें तो अंत समय ईश्वर याद आ सकेगा और हमारा जीवन सार्थक हो जायेगा, अमर हो जायेगा । कोई अमर होने के लिये अमृत की घूंट पीता है परन्तु व्यसनग्रस्त लोग तो बीड़ी, सिगरेट, अफीम आदि में डूबे रहते हैं । जिस मुँह से ये चीजें ग्रहण की जा रही हैं, उस मुँह से परमात्मा का नाम कैसे निकलेगा ? पहले वहाँ पोंछा लगाना पड़ेगा । तब अमृत की बूंद गले से नीचे उतरेगी । कहा भी है-

'करो धरम से प्यार, अमृत बरसेगा....।'

कौन सा अमृत ? प्रभु प्रेम का अमृत । प्रभु के प्रेम में मग्न हो जाइये, लीन हो जाइये, फिर दुनिया की सारी वस्तुएं फीकी लगेंगी । न खाने में रुचि रहेगी, न पहनने की, न बीड़ी की आवश्यकता पड़ेगी, न सिगरेट की । बस परमात्मा का नाम लीजिये, कहा है- प्रेम का प्याला, जो [illegible] से

परिवार वाले इर्द-गिर्द बैठे थे । नब्ज की गति में फर्क आ गया । पुत्रों ने देखा- समय निकट आ गया है तो बड़े पुत्र ने कहा- पिताजी समय नजदीक आ गया है, भगवान् को याद कर लो । सेठ कहने लगे- ठीक समय पर तूने याद दिलाया । भगवाने से पैसे लेने हैं, देखो पूरी वसूली करना । ब्याज ५/- रुपये की दर से ले लेना, छोड़ना मत । पुत्र ने सोचा- मैं तो भगवान् को याद करने का कह रहा हूँ और ये भगवाने को याद कर रहे हैं । फिर कहा- पिताजी ! नारायण को याद करो । हाँ बेटे, उसे भी एक माह की मोहलत दी थी, समय निकल गया है, उसकी तो नीलामी करा देना । यह नारायण सुथार जल्दी देता ही नहीं । पुत्र ने कहा- पिताजी ! राम का नाम लो । बेटे, उसकी पूरी कार्रवाई हो चुकी है, सिर्फ कुर्की करवानी बाकी है । यह स्थिति होती है उस व्यक्ति की, जिसने सारा जीवन माया-मोह में गँवाया, भगवान् को कभी याद नहीं किया और परमार्थ की बात कभी नहीं सोची । ऐसे व्यक्ति का परलोक कैसे सुधर सकता है । उसका तो यह मनुष्य जन्म पाना भी सफल नहीं हुआ है । ऐसे लोगों के बारे में सच यह है कि मुट्ठी बाँधकर आये हैं, जायेंगे तो वह भी खुली रहेगी । विश्व विजेता का स्वप्न देखने वाले सिकन्दर ने भी इस सत्य को मृत्यु के समय ही समझा था, तभी अपने दोनों हाथ कफन के बाहर खुले रखे जाने का निर्देश दिया था-

> क्या लाया था सिकन्दर, क्या ले गया जहाँ से ।
> थे दोनों हाथ खाली, बाहर कफन से निकले ।।

कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति छाती पर बाँध कर नहीं ले जायेगा । पर मनुष्य सोचता नहीं है, अज्ञान में पड़कर जाने कैसे-कैसे कृत्य करता रहता है । इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं- मनुष्य जन्म मिला है, खोना मत, सुकृत करना-

> मिनख जमारो भाई एलो मत खोवजे ।
> सुकृत करले जमारा ने, केसर ढुल गई गारा में ।।

यदि जीवन का महत्त्व नहीं समझा और भैंस को आभूषण पहनाये तो यह सही नहीं होगा, लोग हम पर हँसेंगे । जो केशर को गारे में मिलाकर लिपाई करेंगे तो लोग मूर्ख ही कहेंगे । यह जीवन लाखीणा है, इसे यों ही नहीं गँवाना है ।

जीवन लाखीणो..., लाखीणो का तात्पर्य लक्षण वाला है, लाख रुपये वाला नहीं । कोई कहे लाख रुपये में संतान पैदा करा दो तो ऐसा नहीं कराया जा सकता । इस जीवन की कीमत लाख रुपये नहीं है बल्कि यह लक्षण वाला है । पशु का जीवन लाखीणा नहीं है पर वह घास की संगत से गोबर करता है, वह भी लोगों के लिये उपयोगी बन जाता है । मनुष्य में तो शक्ति होती है, भक्ति करके वह हृदय में परमात्मा को बिठा सकता है पर ऐसा नहीं करके स्वयं को लाखीणा मानें तो उसके मानने मात्र से वह लाखीणा नहीं हो सकता । सेठ ने निरन्तर पाप में स्वयं को लगाये रखा तो अंतिम समय में भी भगवान् याद नहीं आये । कोई सोचे- दीवार पर लिख लूँ, अंतिम समय में पढ़ लूँगा और तिर जाऊँगा पर यदि रोशनी ही न रही तो पढ़ेंगे कैसे ? इसलिये जीवन में शुरू से ही धर्म करणी करते रहें तो अंत समय ईश्वर याद आ सकेगा और हमारा जीवन सार्थक हो जायेगा, अमर हो जायेगा । कोई अमर होने के लिये अमृत की घूंट पीता है परन्तु व्यसनग्रस्त लोग तो बीड़ी, सिगरेट, अफीम आदि में डूबे रहते हैं । जिस मुँह से ये चीजें ग्रहण की जा रही हैं, उस मुँह से परमात्मा का नाम कैसे निकलेगा ? पहले वहाँ चौका लगाना पड़ेगा । तब अमृत की बूंद गले से नीचे उतरेगी । कहा भी है-

'करो धरम से प्यार, अमृत बरसेगा....।'

कौन सा अमृत ? प्रभु प्रेम का अमृत । प्रभु के प्रेम में मस्त हो जाइये, लीन हो जाइये, फिर दुनियाँ की सारी वस्तुएँ फीकी लगेंगी । न खाने में रुचि रहेगी, न पहनने की, न बीड़ी की आवश्यकता पड़ेगी, न सिगरेट की । एक परमात्मा का नाम चाहिये, वह है- प्रेम का प्याला, जो भक्ति से

लबालब भरा हो । नरसी मेहता वैसे ही भक्त थे । राम भक्त हनुमान का नाम कौन नहीं जानता ? उन्होंने क्या किया, यह भी सब जानते हैं । उन्होंने रावण की लंका में आग लगाई और माता सीता को राम का संदेश पहुँचाया, माता से उन्होंने कहा- आप राम के अधीन हैं तो वे जरूर यहाँ पहुँच कर आपको छुटकारा दिलायेंगे । माता ने भी अपनी चूड़ामणी दी कि मेरा संदेश पहुँचाना । संदेश पहुँचाया । युद्ध भी किया । इन सब प्रसंगों के बाद लंका पर विजय हुई, रावण का नाश हुआ और विभीषण का राजतिलक हुआ । राम भी पुष्पक विमान में आरूढ़ होकर अयोध्या पधारे । अयोध्यावासी भी मुग्ध हुए कि राम हमारे नगर में पधारे हैं, वे अगवानी करने आये । जोर-शोर से प्रवेश कराया । चारों तरफ जय-जयकार हुई, मिठाइयाँ बँटी । रामजी और सीताजी सिंहासनासीन हुए, चरणों में हनुमान बैठे । अन्य सभी अपनी-अपनी जगह बैठें । सभी को उपहार प्राप्त हुए लेकिन भक्त हनुमान की ओर किसी का ध्यान नहीं गया । हनुमान को कुछ नहीं दिया । माया से माया मिल रही थी । भगवान् के भक्त को किसी ने नहीं पूछा परन्तु इससे उन्हें क्या फर्क पड़ता, क्योंकि उनके तो भगवान् थे । परिवार वालों ने नरसी मेहता को नहीं बुलाया, कहा- ये तो हरिजन के घर भी जाते हैं परन्तु वे तो सभी में भगवान् को देखते थे । उनके लिये कोई भेदभाव नहीं था । जिसके मन में भेदभाव रहे, वह भक्त नहीं बन सकता ।

मानवता की भव्य-भूमि से, बोल गये भगवान् ।
मानव-मानव एक समान.......।।

आज मनुष्य-मनुष्य के बीच कितना भेदभाव होता है । वह अमुक जाति का है, अमुक पार्टी का है, अमुक देश का है, किन्तु पच्चीस-तीस गायें एक जगह बैठती हैं, वहाँ भेद नहीं होता पर मनुष्य एक जाजम पर बैठकर साथ उठे, मुश्किल है । वह तो पंचों की जाजम है, मूँछ की बात है, जहाँ ऐसी बातें हैं, वहाँ भगवान् नहीं मिल सकते । ऊपर से भगवान् का नाम

जपते रहने का कोई लाभ नहीं। भगवान् तो आयेंगे, हृदय को शुद्ध-पवित्र करने पर ही। हनुमानजी को कुछ नहीं दिया। यद्यपि उन्होंने विचार नहीं किया पर सीता माता उन्हें कैसे भूल सकती थीं ? लंका में उन्हें समाचार पहुँचाने वाले हनुमान ही तो थे। उन्होंने रामचन्द्रजी से कहा। रामजी ने कहा- हनुमान को देने के लिये उनके पास कुछ भी नहीं बचा है। तब उन्होंने अपने गले का नवलखा हार उतारा और उन्हें दे दिया। हनुमानजी उसे लेकर गली में पहुँचे और उस हार की एक-एक मणि निकाल कर सूरज की तरफ करके देखने लगे। जब उनमें कुछ नजर न आया तो उन्हें फोड़-फोड़ कर देखा। जब उनके अन्दर भी उनकी निष्ठा के अनुरूप प्राप्ति नहीं थी तो उन्हें फैंक दिया। लोगों ने कहा- माता सीता भी बावली हैं, हार दे दिया वानर को, वह उसकी कद्र क्या जाने। किसी ने जाकर शिकायत की। माता ने हनुमान को बुलाया, पूछा- हार कहाँ हैं ? भक्त हनुमान ने वह टूटा-फूटा हार समेट कर ला दिया। यह क्या, मैंने तुम्हें इतना कीमती हार दिया और तुमने उसकी यह हालत की ! हनुमानजी ने बच्चे की भाँति कहा- माता ! उसमें राम नहीं मिले, जिसमें राम नहीं, वह मेरे किस काम का ? इसीलिये उसे तोड़कर फेंक दिया। लोगों ने कहा- राम नहीं तो कोई कीमत नहीं ? तो बता दो तुम्हारे भीतर में राम है क्या ? हनुमान ने कलेजा चीर कर दिखा दिया, जिसमें राम साक्षात् विराजमान थे। आज तक मिला कोई ऐसा भक्त, जो सीना चीर कर दिखा दे ? विश्वास होना चाहिये, मन में। हनुमान के मन में कोई शंका नहीं थी कि भगवान् नहीं हुए तो लोग क्या कहेंगे। आज कोई बता सकता है कि उसके हृदय में क्या है। हम अपने हृदय में उत्कट भक्ति-भाव मानते हैं परन्तु क्या भगवान् में अटल विश्वास होता है ? कोई संशय नहीं होता ? यदि संशय का लेश मात्र भी होता है तो समझ लीजिये, हम सच्चे भक्त नहीं हैं। स्वयं को धोखा दे रहे हैं। जब हनुमान ने कलेजा चीर कर बता दिया, तब रामजी ने सीता से कहा- जिसने अपने कलेजे में मुझे बिठा रखा है, उसे अलग से देने के लिये कुछ बच ही नहीं जाता।

भगवान् को पाने के लिये पहले मन-मंदिर को शुद्ध बनाइये । प्रभु के प्रेम में डूब जाइये । मीरांबाई के लिये कहते हैं- वह जहर पी गई, पर मरी क्या ? नहीं मरी । हम जहर पीयें तो बचेंगे नहीं, क्योंकि हमारे भीतर अविश्वास का जहर है । जहर से जहर मिलता है, यदि भीतर जहर नहीं तो कुछ नहीं बिगड़ेगा । भगवान् महावीर के जीवन की घटना है । वे मार्ग पर बढ़ते जा रहे थे । लोगों ने कहा- मत जाइये, मत जाइये । आगे भयंकर सर्प है । उसकी दृष्टि में विष है पर भगवान् नहीं रुके । उन्हें जीवन से मोह नहीं था, बढ़ते गये । बांबी के निकट जाकर खड़े हो गये, ध्यान लगा दिया । सर्प ने देखा- वह आश्चर्य चकित हुआ । यह क्या, आज तक यहाँ पर आने की किसी ने हिम्मत नहीं की । आज यह हिम्मत करने वाला कौन ? सर्प को गुस्सा आया, फन उठाया, फूँक मारी पर कोई असर नहीं हुआ । जब देखा असर नहीं हुआ तो पैर में आंटे डालकर अंगूठे में दाँत गड़ाये । वहाँ से निकले खून का जैसा स्वाद आया, वैसा जीवन में पहली बार ही आया था । वह सोच रहा था- यह क्या हुआ ? भगवान् ने कहा-

"संबुज्जह किं न बुज्जह, संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा ।"

सर्पराज ! संभल जा, तूने बहुत कुछ खोया है । सर्प की अंतश्चेतना जागृत हो गई । चिन्तन प्रारंभ हुआ- मैं कौन था ? सोचते-सोचते ज्ञान की ज्योति प्रकट हो गई । मैं तो महात्मा था, किन्तु क्रोध का उफान आया । उसी क्रोध के कारण सर्प बना । भगवान् ने कहा- संभल जा । पहले क्रोध किया तो यह नतीजा हुआ । अब भी क्रोध करेगा तो पता नहीं क्या परिणाम निकले, अतः अब क्रोध नहीं करना है । भगवान् की वाणी सुनने से बोध मिला । अब तक मैंने बहुत अपराध किये हैं, परन्तु अब जीवन को संभालना है । उसने मुँह बांबी में डाल दिया, अब मैं किसी का बिगाड़ नहीं करूँगा । भगवान् लौट गये, लोगों ने देखा- महावीर वापस आ गये ! वे पहुँचे, सर्प को शान्त देखा तो उसकी पूजा करने लगे । शीतल बन गया था- विष, दुनियाँ अब पूजा करने लगी । लोगों ने घी, मिठाई आदि चढ़ाई । गंध से चींटियाँ आ गईं । शरीर को छलनी बना दिया, पर सर्प

ने गुस्सा नहीं किया, उसने अन्तर ज्योति प्रकट कर ली थी। आग बुझ गई थी। उसने पीड़ा को समभाव से सहन किया। ऐसी ही समता जग जाती है, जब ज्ञान-ज्योति पैदा हो जाती है, फिर जीवन में आनंद आता है। सर्प मनुष्य नहीं था, किन्तु भगवान् का स्पर्श मिला तो पवित्र हो गया। जब तक हम गंदे हैं, तब तक जीवन का उत्थान नहीं होगा। मनुष्य चाहे तो बहुत कुछ कर सकता है, जीवन को सफल करने के लिये। इसीलिये धर्म की बात कही जाती हैं।

धर्म क्या है ? हम सोचतें हैं- चार बेटे हैं, उन्हें पढ़ा-लिखा दिया, उनका लालन-पालन कर दिया, उन्हें पैरों पर खड़ा कर दिया, यही धर्म है। सिर्फ इतना ही धर्म या कर्तव्य नहीं है। हमने किसी को सताया तो नहीं, कोई द्वार पर माँगने आया तो फटकारा तो नहीं। रहीमजी ने कहा है-

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं।।

एक सेठजी दूकान पर बैठे थे, भिखारी आया, बोला- सेठजी दो दिन से भूखा हूँ, रोटी दे दो। सेठजी ने कहा- रोटी नहीं है। भिखारी ने कहा- रोटी नहीं हैं तो कोई बात नहीं, ठंड से ठिठुर रहा हूँ, एक चादर ही दे दो। उत्तर मिला- चादर भी नहीं है। कोई बात नहीं और कुछ दे दो। कुछ भी नहीं है। भिखारी ने कहा- सेठजी ! कुछ भी नहीं है तो आ जाइये मेरे साथ। एक से दो भले। दोनों जने मिलकर मांगेंगे।

सोचिये क्या लेकर जायेंगे ? सब कुछ यहीं रह जायेगा। दुनियाँ में कोई हमारा नहीं है। सिर्फ भलाई-बुराई ही हमारे साथ जायेगी। आँख बन्द हुई और सब पराये। जो धर्म-पुण्य करेंगे, वही साथ जायेगा। इसलिये अच्छा होगा कि हम भक्ति से जीवन को सार्थक कर लें।

दिनांक : २.१.१९९७, अरनेड़

११. सिध्दत्व की प्राप्ति का सुपथ

सिद्ध भगवान् की स्तुति की गई, सिद्ध भगवान् के सम्बन्ध में विचार करें तो औपपातिक सूत्र व उत्तराध्ययन में बताया हैं कि-

"अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया"

अर्थात् अलोक से प्रतिहत है और लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं। प्रतिहत का कारण यह है कि धर्मास्तिकाय जिसके आधार पर गति होती है, वह द्रव्य वहीं तक है। उसके अभाव में कोई भी जीव या पुद्गल गति कर नहीं सकते हैं। गति में सहायक द्रव्य के अभाव में सिद्ध भगवान् भी अलोक से प्रतिहत यानि सट कर रहे हुए हैं।

यदि प्रश्न हो कि सिद्ध भगवान् वहाँ पहुँचे कैसे ? तो उसके लिये हमें खोज वहाँ से प्रारंभ करनी पड़ेगी, जहाँ से वे सिद्ध हुए। कोई भी प्राणी जन्म से सिद्ध नहीं होता। सिद्ध बनने के लिये प्रयत्न/पुरुषार्थ करना होता है, तब कहीं सिद्ध होते हैं, वे सिद्धि में पहुँच कर प्रतिष्ठित होते हैं।

सिद्ध भगवान् भी माता की कुक्षी से जन्म लेते हैं। बालवय में क्रीड़ा भी करते हैं। फिर एक समय ऐसा भी आता है, जब वे संसार के समग्र बन्धनों को तोड़कर मोह-ममत्व का छेदन कर अणगार वृत्ति को धारण करते हैं। जैसे दो तटों के बीच नदी का प्रवाह चलता है, वैसे ही मर्यादा के तट बन्धों में साधु-जीवन की आराधना होती है। यदि तट बन्धों को लाँघ कर नदी चले तो जल प्लावन की भयंकर स्थितियाँ सामने आ सकती है। जब कि तटों के बीच बहती नदी मनोरम, शोभन भी लगती हैं।

सन्त-जीवन भी मर्यादाओं के तट बन्ध में प्रवाहित होता सुन्दर/शोभन लगता हैं। जन-जन के लिये आध्यात्मिक ऊर्जा देने वाला होता है,

किन्तु इसके विपरीत यदि तट बन्धों को लाँघ कर मर्यादाओं का उल्लंघन करके चले तो वही साधु-जीवन स्वयं साधु के लिये तो अहितकर होता है । उसकी शोभन अवस्था में तो बटा लगता ही है, पर जनजीवन को भी उससे भारी हानियाँ होती हैं । अनेक लोग उस प्रवाह में बह कर सतपथ को विसार देते हैं । अतः सिद्ध बनने वाले मर्यादाओं के तट बन्ध में चलते हुए आत्मोन्नति का पथ प्रशस्त करते हैं । अप्रमत होकर श्रेणी आरोहण करते हैं । आकाश प्रदेश की एक प्रदेशात्मक पंक्ति को भी श्रेणी कहा जाता है, किन्तु यहाँ श्रेणी आरोहण का विशिष्ट अर्थ है । उसमें आत्मा के अध्यवसाय इतने पवित्र और सशक्त हो जाते हैं कि कषायों को तीक्ष्णता से बेधते हुए आगे बढ़ जाते हैं । मोह कर्म का समूल नाश करके, वे वीतराग बन जाते हैं, फिर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का युगपत क्षय करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं । यदि आयु कर्म शेष रहता है तो यथावसर उपदेशादि के माध्यम से जनजीवन का कल्याण पथ प्रदर्शित करते हुए विचरण करते हैं । कालान्तर में शेष चार अघाति कर्मों को नष्ट करके एक समय की ऋजु गति से वे यहाँ से वहाँ तक की यात्रा तय कर लेते हैं । बल्कि यहाँ से जिस समय उनका प्रस्थान होता है, उसी समय में वे सिद्ध क्षेत्र में पहुँच गये होते हैं और उसी समय में वे अलोक से प्रतिहत होकर लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं । यह है- सिद्ध भगवान् की अध्यात्म यात्रा का संक्षिप्त विवरण ।

ऐसे सिद्ध भगवन्तों की स्तुति आत्मा की सुषुप्त अनन्त शक्तियों को जागृत करने वाली होती है । जैसे मयूर की आवाज सुनकर सर्प भागने लगते हैं, वैसे ही सिद्ध भगवान् की स्तुति अन्तरंग में प्रविष्ट होने पर हमारी शक्तियों को आवृत्त करके रहे हुए कर्म, वहाँ से हटने लगते हैं । जिससे हमारी शक्तियाँ अनावृत हो जाती है । जब हमारी शक्तियाँ अनावृत हो जाती है, तब आत्मिक उल्लास बढ़ने लगता है । ठीक वैसे ही, जैसे एक व्यापारी को धन-लाभ होने पर उसकी भावना बढ़ जाती है ।

अब तक जो व्यक्ति निन्दा-प्रशंसा में अपने आपको सम नहीं रख पाता था, उसी में अब उस शक्ति का संचार होने से वह निन्दा-प्रशंसा में एकीभूत रहने लगा। चंडकौशिक सर्प का उदाहरण हमारे सामने है, जो भगवान् के उद्बोधन से निन्दा-प्रशंसा में सम बना रहता। अब निन्दा उसे उद्वेलित नहीं कर पाती है तो प्रशंसा उसे प्रभावित करने का सामर्थ्य खो बैठी। अधिकांश प्राणियों पर जब हम दृष्टिपात करेंगे, तब यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि व्यक्ति अपने निंदक के प्रतिकार के लिये कितना तत्पर रहता है। कभी-कभी तो हिंसक वारदात पर भी उतारू हो जाता है। किन्तु जिसने अपने भीतर तक सिद्ध स्तुति को बैठा ली हो तो वह निन्दा करने वाले के प्रति भी करुणा का भाव प्रवाहित करेगा। क्योंकि निन्दा करने वाला बेचारा स्वयं पहले ही कर्मों का बन्ध करके अपना अहित कर ही रहा है, फिर उसका और क्या अहित किया जाय ? बल्कि ऐसे समय में सिद्ध स्तुति को अपने भीतर रमाने वाला विचार करेगा कि निन्दा करके यह मेरा तो मेल साफ करके भला कर रहा है, किन्तु स्वयं अपना नुकसान कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति अपना अहित करके भी दूसरे का हित करे तो उसे उपकारी ही समझा जाता है, वैसे ही निन्दक अपना अहित करके भी मेरा हित कर रहा है, अतः उसे उपकारी के रूप में वह देखता है।

यह शक्ति अन्तर से सिद्ध स्तुति से ही प्रकट हो सकती है। आन्तरिकता से जो स्तुति करेगा, वह अपने द्वार भी स्वयं के परिवर्तन के लिये खुला रखेगा। यदि अपने बदलाव के लिये तैयार नहीं हो तो फिर स्तुति कोई सार्थक होने वाली नहीं है। स्तुति जिसके अन्तर तक पहुँचेगी, वह स्वयं के जीवन को संयमित करने का प्रयत्न करेगा, वैसी स्थिति में वह स्वयं को मर्यादाओं के तट में ही रखना उपयुक्त समझेगा। यद्यपि वर्तमान में कितने ही व्यक्ति मर्यादा को बन्धन मानते हैं। ऐसे मानव सोचते हैं- हम बन्धन में क्यों बन्धे ? वे भाई यह नहीं सोचते कि हम मकान, चार दिवारी में क्यों बन्धे हैं ? क्या ऐसे व्यक्ति मकान बना कर नहीं रहते ? क्या मकान बन्धन नहीं है ? और क्या हमारी शरीर स्वयं एक बन्धन

नहीं है ? फिर इस बन्धन को कैसे स्वीकार किया जा रहा है ? जैसे जीवन की सुरक्षा के लिये मकान की अपेक्षा है । आत्मा के लिये शरीर की आवश्यकता है, उतना ही आत्म-शक्तियों को विकसित करने के लिये मर्यादाओं का होना आवश्यक है ।

मर्यादाएँ मात्र साधु जीवन के लिये ही अनिवार्य है, ऐसा नहीं समझना चाहिये । मर्यादाओं का प्रत्येक प्राणी के लिये होना आवश्यक है । मर्यादा विहीन कई जैनी कहलाने वालों की विचित्र दशाएँ श्रुतिगत होती है । उनको खाद्य-अखाद्य का भी विवेक नहीं है । अनेक जैनी नामधारी, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान-पराग आदि का धड़ल्ले से सेवन कर रहे हैं । जो व्यसन हमारी संस्कृति की घात करने वाला है, उसे अपना कर अपना गौरव समझते हैं । कई भाई स्वयं के लिये व्यसन का त्याग करते हैं, पर व्यसनी पदार्थों का उत्पादन व विक्रय में परहेज नहीं करते । ऐसा करते हुए भी अपने को जैनी मान रहे हैं । व्यसन जैनियों के लिये ही नहीं, मानव मात्र के लिये घातक है । उसके दुष्परिणाम जानते हुए भी धनार्जन का उन्हें माध्यम बनाया जाना, उपयुक्त नहीं कहा जा सकता ।

मर्यादाओं के ग्रहण में विवेक आवश्यक है । पहले व्यावहारिक जीवन की शुद्धि का भी लक्ष्य होना आवश्यक है । एक तरफ सामायिक का नियम लें, दूसरी तरफ व्यसनों के सेवन में मशगूल रहे तो समझना चाहिये, उन्होंने अभी सामायिक के स्वरूप को ही नहीं जाना है । त्याग प्रत्याख्यान की भूमिका में जैसे सर्वप्रथम मिथ्यात्व का त्याग होना चाहिये, वैसे ही व्यवहारिक जीवन शुद्धि के लिये सर्वप्रथम व्यसनों का त्याग होना चाहिये । व्यसन का अर्थ सप्त-कुव्यसनों से है ।

कई लोग नारा लगाते हैं "गुरु आपके मंत्र को, घर-घर तक पहुँचायेंगे" पर व्यसन छोड़ नहीं पा रहे हैं । वैसी स्थिति में क्या गुरु का वह मंत्र है कि व्यसन का सेवन करो, उसका प्रचार करो, उसका विक्रय करो ? ऐसा गुरु का संदेश नहीं है, फिर यदि ऐसा किया जाता है तो उसे उपयुक्त कैसे कहा जा सकता है ?

पान-पराग के संदर्भ में ज्ञात हो पाया कि उसमें छिपकली का पाउडर मिलाया जाता है, ताकि खाने वाले को बार-बार तलव होती रहे, खाने की इच्छा होती रहे। अब विचार करें, क्या ऐसे पदार्थ मानवीय जीवन के लिये घातक नहीं है ? घातक है। घातक होते हुए भी ऐसे पदार्थों का सेवन, विक्रय, उत्पादन, प्रचार करना जैनिज्म की परिभाषा में परिगमन नहीं हो सकता। इसलिये यह भूलना नहीं चाहिये कि मर्यादामय जीवन में रहते हुए ही तथा सिद्ध भगवान् की प्रार्थना करते हुए ही, हम उस स्थिति का वरण कर सकते हैं, जिसमें हम कह सकें- "तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ।" वास्तव में भेद नहीं है। भेद तो हमने बना रखा है। कहा गया है-

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय ।।

हमारी चित्तवृत्तियों में राग-द्वेष, क्रोध-मान का जो अतिक्रमण हुआ है, उसके कारण हम अन्तर को पाट नहीं पाये हैं। अन्तर को पाटना है तो रहन-सहन मर्यादित करना होगा।

इस मर्यादित स्वरूप को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य समदृष्टा बने तथा सभी के प्रति सदा, सर्वत्र समभाव रखे। जो व्यक्ति ऐसा कर पाता है, उसका राग-द्वेषादि विकारों पर स्वतः ही नियंत्रण हो जाता है। वह मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि के प्रति तटस्थ हो जाता हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियाँ, उसके हृदय में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर पाती। इस प्रकार न तो निन्दा करने वाले के प्रति उसमें द्वेष अथवा वैर बुद्धि उत्पन्न होती है और न स्तुति करने वाले के प्रति राग या प्रेमभाव उत्पन्न होता है। वे मूढ़ एवं अज्ञानी ही होते हैं, जो निन्दा सुनकर दुःखी और प्रशंसा सुनकर सुखी होते हैं। विवेकशील पुरुष तो निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर विनम्र होता है। लोक-संग्रह और शास्त्र-मर्यादा के लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए तथा दूसरों के व्यवहार में बड़ी

विषमता प्रतीत होने पर भी बुद्धि में कोई अंतर नहीं आना चाहिये । ऐसा मर्यादित आचरण करने वाले के लिये ही कहा गया है-

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ।।

अर्थात् ऐसे समदर्शी ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को भी समभाव से देखने वाले होते हैं ।

आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है- "हे आर्य ! इस संसार में जन्म और जरा के दुःखों को देख । संसार के सभी प्राणियों को अपने समान समझ । जैसे तुझे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, ऐसा विचार कर तू अपना बर्ताव बना । यही परम कल्याणकारी मोक्ष का मार्ग है । (३/२)

परन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति बने, यह सहज नहीं है, इसके लिये प्रयास करने पड़ते हैं, जो गुरु-कृपा से ही सफल होते हैं । शास्त्रों में कहा भी गया है कि गुरु की सेवा और गुरु की भक्ति इष्ट फल प्रदान करने वाली होती हैं, परन्तु इसके लिये गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव होना चाहिये । गुरु की आराधना करने वाला साधक प्रत्येक कार्य गुरु की आज्ञा से ही करता है, वह अपना सर्वस्व गुरु को समर्पित कर देता है, अतएव जैसा वे कहते हैं, वैसा ही करता है । यह भी समझ लेने की बात है कि गुरु के आदेशानुसार क्रिया करने वाला साधक कर्म-मैल से लिप्त नहीं होता । गुरु के निश्रित रहने का उपदेश इसलिये दिया गया है, क्योंकि आचार्य अथवा गुरु जलाशय के समान निर्मल तत्त्व से परिपूर्ण, सभी स्थितियों में ज्ञानरूपी जल प्रदान करने वाले, समस्याओं की प्यास का समाधान करने वाले तथा अपवित्र को भी पवित्र करने वाले होते हैं । आचार्य के लिये आचारांग सूत्र (५/५) में "सोयमज्झगए" (ज्ञानरूप स्रोत के मध्य रहते हुए) का विशेषण दिया गया है । क्योंकि आचार्य श्रुत (आगम) का आदान-प्रदान करने वाले होते हैं । जिस प्रकार सरोवर में पानी आता भी है और सरोवर से निकलता

भी रहता है, उसी प्रकार आचार्य ज्ञान के भण्डार होते हैं और हजारों प्राणियों को ज्ञान का पान कराते हैं । आचार्य और सरोवर की, समता की जो बात बताई गई है, वह यह है कि जिस प्रकार सरोवर अपने चारों ओर के किनारों की मर्यादा को ध्यान में ले कर, अपने स्वरूप में स्थित रहता है, उसी प्रकार आचार्य भी अपनी मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं करते तथा उनका सम्पूर्ण ज्ञान समाज के लिये होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार तरुओं के फल और सरोवरों का जल-

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पिये न पानि ।
कह रहीम पर काज हित, सम्पत्ति सजहिं सुजानि ।।

सरोवर और आचार्य की तुलना करके सूत्रकार ने यह भी बताना चाहा है कि सन्तों का आदर्श सामने रखकर ही जीवन में प्रवृत्त होओ, कल्याण ही होगा । ऐसा इसलिये भी आवश्यक है, क्योंकि तत्त्वज्ञान को स्वतः ही समझ पाना कठिन है, उसे केवल ज्ञानी पुरुषों की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है । अतः जो अपनी उन्नति अथवा अपना उद्धार चाहता है, उसे ज्ञानीजनों के पास जाकर उनकी कृपा से अपेक्षित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये । यमराज ने सत्य के जिज्ञासु नचिकेता से इसीलिये कहा था- "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" - उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो । सिद्ध अवस्था तक पहुँचने का मार्ग भी इसी दिशा में ले जाता हैं ।

दिनांक : ३.१.१९९७, भीण्डर

१२. अभय का मार्ग

इस संसार में कर्म के बिना गति नहीं है । प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता ही रहता है चाहे वह मन से करे, चाहे वचन से, चाहे कर्म से । उसके कर्म उसे सदा ही निर्दिष्ट दिशा में ही ले जाते हों अथवा सम्यक् मार्ग पर ही चलाते हों, यह आवश्यक नहीं है । संसार में दुःख, कष्ट, पीड़ा, निराशा आदि इसी कारण है, क्योंकि मनुष्य अपने आचरण के प्रति सतर्क नहीं होता । परिणाम स्वरूप उसके प्रयास या उसकी क्रियाएँ भी अपेक्षित फल देने वाली नहीं बन पाती । वास्तव में होता यह है कि व्यक्ति काम करने की स्थिति या आवश्यकता तो देखता है, उसके परिणाम का पूर्वानुमान नहीं कर पाता । यह काम भी वह अनेक दबावों के चलते प्रारंभ करता है तथा अन्त तक उनसे प्रभावित रहता है । तब स्वाभाविक ही है कि किसी भी दबाव के कमजोर पड़ते ही संबंधित क्रिया भी प्रभावित होती है, परन्तु सांसारिक माया-मोह के चलते मनुष्य कर्म और फल के बीच कोई निश्चित संबंध जोड़ नहीं पाता, बल्कि कई बार उसके पूर्वाग्रह उसे विशिष्ट निष्कर्ष निकाल लेने के लिये प्रेरित करते हैं । इस स्थिति में यह आवश्यक है कि कर्ता विवेकशील एवं दूरदृष्टि वाला हो । परन्तु दुर्बल मनुष्य से भूल हो ही जाती है । इस संकट से बचने के लिये चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं के लिये जो दिव्य देशना दी है, वह अत्यंत उपयोगी ही नहीं, सम्पूर्ण जीवन को संवार कर, उसे सार्थक बनाने वाली भी है । प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं को संबोधित करते हुए कहा है कि- हे भव्यात्माओ, तुम जिस दिशा में भी गतिशील हो, पहले उस दिशा का ज्ञान करो और सत्य की जो आज्ञा है- उसका पालन करो । उन्होंने कहा है- "सच्चस्स आणाए उवट्ठिए, से मेहावी मारं तरइ ।" सत्य की आज्ञा में उपस्थित हो जाओ ।

सत्य की आज्ञा क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक है। पूछा यह जा सकता है कि क्या सत्य भी आज्ञा देता है ? यदि आज्ञा देता है तो सत्य की आज्ञा क्या है और वह कैसे देता है ? सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है- 'सच्चं खु भगवं' सत्य ही भगवान है तो जो भगवान् की आज्ञा है, उसे हम शिरोधार्य करें। यदि व्यक्ति उसे शिरोधार्य करता है तो कहा गया है- 'ते मेधावी' वह मेधावी 'मारं तरइ' मृत्यु को तैर जाता है। उसे मृत्यु का भय नहीं सताता। इस तथ्य को आज के संदर्भ में समझना आवश्यक है।

आज व्यक्ति जीवन में एक छोर को देख रहा है, दूसरा छोर उससे ओझल है। हम जानते हैं कि जीवन के दो छोर हैं। दोनों जब मिलते हैं, तब ही पूर्ण वृत्त बनता है। जब तक हमारी एक छोर के प्रति अभिलाषा है, तब तक दूसरा छोर हम देख नहीं पायेंगे और सम्पूर्ण सत्य हमारी दृष्टि से ओझल रहेगा। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि हम पहचानें कि वे दो छोर कौन से हैं, जिनमें एक बहुत प्यार है और दूसरे से हम बचने का प्रयास करते हैं।

जब तक हम इन दोनों किनारों को देख नहीं लेते, जीवन का आनंद नहीं आयेगा, न ही तब तक जीवन में समग्रता से सत्य को उपलब्ध ही कर पायेंगे। ऐसी बात नहीं है कि हम इन दोनों छोरों से परिचित नहीं हैं। सत्य तो यह है कि हम इन दोनों को पूरी गंभीरता से जानते हैं, इसीलिये आकर्षक अथवा अभीप्सित की तो बहुत चिन्ता करते हैं, परन्तु अनाकर्षक अथवा अनचाहे की वास्तविकता से बचने के लिये उसके अस्तित्व को नकारते रहने में ही अपना हित देखते हैं। परन्तु नकारने से कोई अस्तित्व समाप्त तो नहीं हो जाता। अस्तु तो देखें कि ये दो छोर कौन से हैं। ये दो छोर हैं- जीवन और मृत्यु। जब तक व्यक्ति इन दोनों छोर को उनकी एक सूत्रता में नहीं देख लेता, तब तक इस सम्पूर्ण अस्तित्व का सहज आनन्द भी वह नहीं ले सकता, क्योंकि सुख की गहन अनुभूति के लिये दुःख का अनुभव भी आवश्यक होता है। जिस प्रकार उज्ज्वलता की महिमा कालिमा के, सुगन्ध की महिमा दुर्गन्ध के तथा प्रकाश की महिमा अंधकार

के संदर्भ में ही समझी जा सकती है, उसी प्रकार जीवन की महिमा भी मृत्यु के संदर्भ में ही समझी जा सकती है । परन्तु विडम्बना यह है कि व्यक्ति एक छोर जन्म को अथवा जीवन को तो चाहता है- 'सव्वेसिं जीवियं पियं' सभी को जीवन प्रिय है, मृत्यु को कोई नहीं चाहता, पर जब सत्य को जान लेंगे तो मृत्यु का भय नहीं सतायेगा । मृत्यु का भय तभी तक है, जब तक सत्य के सही तौर-तरीकों को न जान लिया जाय । सोचें कि मृत्यु-भय क्यों नहीं सताता ? इसलिये कि इस सत्य का ज्ञान हो जाता है कि आत्मा अजर, अमर, शाश्वत एवं नित्य है, वह कभी मरता नहीं । आचारांग सूत्र में कहा गया है-

"जे आयावाई से लोयावाई, से कम्मावाई से किरियावाई ।"

वस्तुतः यात्रा का प्रारंभ जहाँ से किया जाना चाहिये, वहाँ से हम कर नहीं पाते । इसके लिये आध्यात्मिक या धार्मिक जगत् में सबसे पहले हमें आत्मवादी बनना होगा । जब तक आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं, तब तक आगे के क्रिया कलापों का न कोई महत्त्व होगा, न उपयोगिता । इसलिये पहले जीवन में आत्म तत्त्व का बोध प्राप्त करना चाहिये । जैसे ही यह बोध प्राप्त होगा, वैसे ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि जब आत्मा अजर, अमर, शाश्वत है तो ये जन्म-मरण की प्रक्रिया क्या है ? हम उससे जन्म-मृत्यु की बात क्यों जोड़ते हैं ? शाश्वत है तो उससे मृत्यु कैसे जुड़ती है ? आत्मा द्रव्य की अपेक्षा अखंड है, अजर-अमर है, त्रिकाल स्थायी द्रव्य है । ऐसा कोई काल नहीं था, जब आत्मा नहीं थी, न कोई काल है और न ही ऐसा काल आयेगा, जब आत्मा नहीं रहेगी । तब मरण किसका होता है ? आत्मा का मरण नहीं होता, तुमने जिन पर्यायों को ग्रहण किया है, उन्हें छोड़ना ही मरण है । वह अवस्था न आये तो वह कुटस्थ नित्य हो जायेगी, वहाँ कोई क्रिया भी नहीं बन पायेगी । जब हम जान लेते हैं कि पर्याय का परिणमन होता है, तब आत्मा का कुछ ज्ञान प्राप्त होगा कि संसार की ये अवस्थाएँ कर्मजनित हैं । हम जो भी क्रिया करते हैं, उससे कर्म-वन्ध होता है । कर्म-बन्ध से विभिन्न योनियों में भ्रमण की अवस्थाएँ जुड़ती हैं । यदि

हम क्रिया न करें तो कर्मों का आदान भी नहीं होगा। जहाँ मन, वचन, काया के योग की क्रिया नहीं, वहाँ कर्म का लेप भी नहीं लगेगा। जहाँ चौदहवें गुणस्थान में अयोग अवस्था है, वहाँ क्रिया नहीं होती तो कर्मबन्ध भी नहीं होता पर जब तक क्रिया चलती है और चलती रहेगी, तब तक बंध होता रहेगा।

अनुसंधान के इस युग में वैज्ञानिक विशेष रुप से चिन्तित हो रहे हैं। उन्हें लग रहा है कि ओजोन की जो छतरी है, जिसके कारण सूर्य की पराबैंगनी किरणें सीधी धरती पर नहीं आ पातीं, क्योंकि वह रोक लेती है, इस छतरी में छिद्र होने लगे हैं। उसका कारण यह है कि क्लोरोफ्लाइड कार्बन ३ लाख ६२ हजार टन प्रतिवर्ष ऊपर उठ रहा है, उसी के कारण छिद्र की स्थिति बन रही हैं। वैज्ञानिक पर्यावरण को शुद्ध करने की चिन्ता से ग्रस्त हैं, परन्तु पर्यावरण प्रदूषण के कारण ही तो यह कार्बन क्लोरोफ्लाइड पैदा हो रहा है। वैज्ञानिक तो खोज कर रहे हैं और संशोधन की दिशा में कदम बढ़ा रहे हैं, परन्तु यह हमें भी देखना है कि वैज्ञानिकों की खोज से हम भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं या नहीं। हम समझें कि यदि कार्बन क्लोरोफ्लाइड ओजोन छत्री में छिद्र कर दें तो वे पराबैंगनी किरणें जमीन पर आकर मनुष्य को संतप्त कर सकती हैं तो हमारे भीतर पैदा होने वाला कुविचारों और कुवृत्तियों का कार्बनडाई आक्साइड हमारे चिन्तन को भी विषैला बना सकता है। भीतर कार्बन पैदा होगा तो विचारों की ओजोन छतरी में छिद्र होने से पराबैंगनी किरणें हमारी आत्मा को झुलसा देंगी। इस स्थिति पर भौतिक वैज्ञानिकों को नहीं आध्यात्मिक वैज्ञानिकों को विचार करना चाहिये। हमारा सौभाग्य है कि वे तो विचार कर ही रहे हैं और हम भी उस दिशा में जाग्रत हो रहे हैं और समझ रहे हैं कि इस हेतु सत्य को आत्मभाव से स्वीकार करना आवश्यक है। परन्तु व्यक्ति सत्य की आज्ञा में उपस्थित कैसे हो ? जब तक गर्मी और लू की चपेट में वह झुलस रहा हैं, तव तक सत्य की आकांक्षा, वह नहीं कर सकता है। पहले उसे उपचार की आवश्यकता है। उसे तड़फ अथवा बीमारी की अवस्था में उपदेश दें

तो वह कारगर नहीं होगा ? आत्मा जिन पराबैंगनी किरणों से संतप्त हैं, वे किरणें हैं- मिथ्यात्व की, अव्रत, प्रमाद, कषाय की । ये जब तक पड़ती रहेंगी, तब तक सत्य के समीप तो क्या उसकी आज्ञा पर उपस्थित होना भी हमारे लिये बहुत कठिन कार्य होगा । इन किरणों से अपनी आत्मा को प्रभावित होने से कैसे रोके या ऐसा कौन सा उपाय करें, जिससे आत्मा को बचाया जा सके ।

कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति बैठा होता है और बैठे-बैठे उसके विचारों में उथल-पुथल मच जाती हैं । कोई प्रत्यक्ष कारण दिखाई नहीं देता, यद्यपि कारण बिना कार्य नहीं होता । प्रत्यक्ष कोई कारण नहीं, तब समझ लेना चाहिये कि मिथ्यात्व, प्रमाद और कषाय की पराबैंगनी किरणें उसकी आत्मा को संतप्त किये हुए हैं, भले ही व्यक्ति सोच नहीं पाता हो कि वैसा क्यों हो रहा है । यदि इन किरणों से बचाना है तो प्रभु महावीर द्वारा प्रदत्त संरक्षण को स्वीकार करना होगा । उन्होंने एक साधन दिया है, एक छतरी दी है, यदि उसे अपने से संयुक्त कर लें, उसका संरक्षण स्वीकार कर लें तो कषायादि की पराबैंगनी किरणें संतप्त नहीं कर पायेंगी । हम जानते हैं कि यदि वर्षा हो रही हो और व्यक्ति स्वयं को बचाने के लिये छतरी लगा लेता है अथवा यदि छतरी नहीं हैं तो बरसाती पोशाक पहन लेता है तो वह वर्षा के पानी से भीगता नहीं । वैसे ही यदि व्यक्ति प्रभु द्वारा दी गई बरसाती पहन ले अथवा छत्तरी लगा ले तो पराबैंगनी किरणें उसकी आत्मा तक नहीं पहुँचा पायेंगी, बाहर से ही लौट जायेंगी । प्रभु महावीर द्वारा प्रदत्त वह छतरी अथवा बरसाती है- 'संवर' अर्थात् व्रत-प्रत्याख्यान की । निरन्तर आस्रव द्वार से पानी आ रहा है, व्रत की छतरी न लें तो जल प्लावन की स्थिति पैदा हो जायेगी, जिसके कारण आत्मा की सोचने-समझने की क्षमता कुंठित हो जायेगी । अतः व्रत की छतरी लगा लें, क्योंकि 'वृतु संवरणे', अर्थक धातु से व्रत शब्द निष्पन्न हुआ है । व्रत आत्मा को ढ़कने वाला है । यदि व्रत आत्मा को ढ़क ले तो आस्रव की किरणें आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो पायेंगी और बचाव हो जायेगा । देखना है- हमारी वह छतरी मजबूत

कितनी है, क्योंकि भावना के आधार पर एक स्त्री वेश्या बनती है, एक महारानी। दोनों बाल विधवाएँ हैं, दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। एक ने स्वेच्छा से किया और दूसरी ने बलात् किया, अर्थात् उसने कुल-मर्यादा की रक्षा के लिये पालन किया, पर भीतर की अभिलाषा शांत नहीं हुई। परिणाम स्वरूप अगले जनम में, जो स्वेच्छा से प्रतिज्ञा पालन करती है, महारानी बन जाती है। जबकि ब्रह्मचर्य का पालन दूसरी स्त्री भी करती है किन्तु आन्तरिकता के अभाव में वेश्या बनती है। व्रत का बाना पहना किन्तु यदि भावनापूर्वक नहीं पहना तो आत्मा की सुरक्षा कठिन है। इस संदर्भ में भगवान् की देशना में कहा है- 'पढमं णाणं तवो दया' पहले ज्ञान करो। कैसे ज्ञान करें ? आप सामायिक करते हैं, पर सामायिक के स्वरूप का सही ज्ञान है क्या ? हमनें सामायिक के ज्ञान में क्या जाना ? यही कि पोशाक का परिवर्तन कर लें, मुहपती बाँध ले, आसन जमा कर बैठ जायें। बस क्या यही सामायिक का स्वरूप है ? नहीं, अतः पहले इसकी विधि-निषेध की अवस्थाओं का ज्ञान करें। क्या होना चाहिये, क्या नहीं होना चाहिये, जब तक इन दोनों का ज्ञान नहीं, तब तक शुद्ध आचरण नहीं होगा। इसी प्रकार श्रावक एक व्रतधारी हो अथवा बारह व्रतधारी, जब तक उसे पहले अहिंसा अणुव्रत के विधि-निषेध का ज्ञान नहीं, तब तक वह व्रतानुसार आचरण नहीं कर पायेगा। पहले ज्ञान करें, फिर उस दिशा में गति करें तो ही सहज गति बनेगी, फिर कैसी भी परिस्थिति आये, वह डगमगायेगा नहीं।

पर्यूषण के दिनों में आप अंतगड सूत्र सुनते हैं, जिसमें बताया गया है कि सेठ सुदर्शन प्रभु के दर्शन हेतु जा रहे हैं। बीच में अर्जुनमाली आ गया। सेठ देखते हैं- उपसर्ग आ गया है तो अपने आप में आत्मा को संवृत्त कर लेते हैं, सागारी संथारा करके बैठ जाते हैं। परमात्मा के चरणों में ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं। अर्जुनमाली का मुद्गर उठा। उठा जरूर, पर क्या सेठ पर गिर पाया ? नहीं गिरा, क्योंकि उन्होंने अपने आप को बरसाती से ढ़क लिया था। मैं बरसाती की संज्ञा दे रहा हूँ, पर भावात्मक

रूप में उन्होंने आत्मा की शाश्वतता का अनुभव कर लिया था। शरीर और आत्मा का भेद जान लिया था कि आत्मा अजर-अमर है । इस प्रकार भावना के अनुरूप ही वर्तुल बन जाता है, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में आभामंडल कहते हैं । महापुरुषों के चित्र के पीछे आभामंडल बना हुआ दिखाया जाता है । विचारों के अनुरूप ही यह आभामंडल अथवा सुरक्षा कवच बनता है । यह बना रहता है, यदि निरन्तर शुभ भावों का चिन्तन बना रहे, सत्य की आज्ञा में उपस्थित बने रहें। सत्य की यही आज्ञा है कि- "निज का निज में अवस्थान कर लें।" जो ऐसा कर पाता है, वही आज्ञा में उपस्थित होता है, उसे फिर मृत्यु का भय सता नहीं पाता, न भयभीत ही कर पाता है । चाहे कैसी भी परिस्थिति आ जाये, भले ही वह अकेला श्मशान में पहुँच जाय । परन्तु वह भयभीत नहीं होगा । शास्त्रों में कथन आता है कि साधक भयानक श्मशान में पहुँच कर भी ध्यान में तल्लीन हो सकते हैं । गजसुकुमाल मुनि ऐसे महाकाल श्मशान में ध्यान में लीन है, जिसके पास से निकलते हुए व्यक्ति घबराता है, जहाँ रात्रि में भयंकर आवाजें आती हैं । लेकिन जब व्रत से आत्मा को ढ़क लिया तो बाहर का शोरगुल आत्मा को भयभीत नहीं कर पाता, उसका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता । सेठ सुदर्शन ध्यान में बैठे हैं, अर्जुनमाली का मुद्गर नहीं गिरा, किन्तु यक्ष चला गया तो वह स्वयं धड़ाम से गिर पड़ा। यह हम बाहर से देख रहे हैं, किन्तु आत्मा की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि हमारे जीवन में अर्जुनमाली फौलादी मुद्गर लिये हुए आत्मा को खदेड़ने का प्रयत्न कर रहा है । चित्तवृत्तियों पर प्रहार जो करना चाहता है, वह मुद्गर है, हमारा अहं । जब तक अहं का सर्कल है, हम व्रत की बरसाती से स्वयं को ढ़क नहीं पायेंगे । अहं का वर्तुल है तो उसके जितने साथी हैं, वे भी उपस्थित रहेंगे, जिससे पराबैंगनी किरणें निरन्तर आत्मा पर गिरती रहेंगी । इस स्थिति में हम आत्मा के सत्चित्त आनन्दमय स्वरूप का बोध करने में सक्षम नहीं होंगे। यह तो मात्र एक उदाहरण है, ऐसे अनेक कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

हम पढ़ते भी है, पर पढ़ लेने मात्र से कुछ नहीं होगा, यदि हमने जीवन का मूल्यांकन नहीं किया और जीवन से संबंध नहीं जोड़ा। व्रत का वर्तुलन ओढ़े बिना आत्मा को सुरक्षित नहीं कर पायेंगे।

संतों का योग इसमें एक निमित्त बनता है। तिरण-तारण के जहाज की उपमा उनके संबंध में सार्थक होती है। वे हमें आत्मा का बोध कराते हैं। आत्मा शाश्वत है, नित्य है पर अज्ञान के कारण वह कर्मों से आवृत्त है, औदायिक भावों के कारण व्यक्ति आत्मा को समझ नहीं पाता। वह जब तक विक्षिप्त अवस्था में चलता रहेगा, तब तक न जीवन और मृत्यु के छोरों को देख पायेगा, न ही भय से बच पायेगा।

कहा गया है- "सच्चस्स आणाए उवट्ठिए, से मेहावी मारं तरइ," अर्थात् जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित होता है, वह मेधावी है, बुद्धिमान है, प्रज्ञावान है। आज्ञा की परीक्षा कर जिसने उसमें स्वयं को उपस्थित कर लिया, वह धन्य है। अतः पहले हम उसका ज्ञान करें, फिर भावात्मक दृष्टि से जीवन में उसका समन्वय कर उसे आत्मसात करें, फिर चाहे अर्जुनमाली आ जाये या सोमिल ब्राह्मण आ जाये, हमें कोई विचलित नहीं कर पायेगा, क्योंकि तब हमने ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा परन्तु जब तक ज्ञान नहीं, तब तक वहाँ दिग्भ्रांत होने की अवस्था बनी रहेगी।

एक प्रमादी राजा था। राजकाज में वह रुचि नहीं लेता था। निरन्तर सुरा-सुन्दरी के उपभोग में जीवन को व्यर्थ कर रहा था। उसका मंत्री नीतिनिपुण एवं कर्त्तव्य परायण था। बेचारा अपना सारा समय राजकीय व्यवस्था में ही नियोजित करता था। उसे चिन्ता रहती थी कि कहीं किसी भी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न न हो जाय। क्योंकि वह जानता था कि जब तंत्र बिगड़ता है, तब दूसरे राजा आक्रमण करते हैं। अतः उसकी चिन्ता रहती थी कि पहले से ही व्यवस्था बनी रहे। जब उसे राजा से आवश्यक परामर्श लेना होता, वह राजा के पास जाता था, परन्तु तब भी राजा को लगता था कि वह उसके रंग में भंग डालता है, अतः पहले

तो बहुत देर तक उसे मिलने की इजाजत ही नहीं मिलती थी और काफी देर इन्तजार करने के बाद, जब इजाजत मिलती थी तो राजा उसे झटक देता था- मेरे रागरंग में दखल न दिया करो । किसी प्रकार कार्य चल रहा था । मंत्री ने विचार किया- इस स्थिति में तो अच्छा है, व्यवस्था की चिन्ता छोड़ कर सन्यास ले लूँ । सम्पत्ति की कमी भी नहीं थी पर वह स्वयं को सुरक्षित महसूस नहीं कर रहा था । दुश्चिन्ता की पराबैंगनी किरणों के संत्रास से परेशान होकर उसने सोचा- अच्छा होगा कि मैं सत्य की उपासना कर लूँ पर सत्य मिलेगा कहाँ ? मुझे कोई मार्गदर्शक मिल जाये तो कितना अच्छा हो ! कहते हैं कि जहाँ खोज होती है, सच्ची जिज्ञासा होती है, वहाँ मार्गदर्शक भी मिल जाते हैं । उसे भी मार्गदर्शक मिल गये । समर्थ गुरु का योग मिला । मंत्री ने पुत्रों से कहा- तुम्हें जीवन सुरक्षित रखना है तो सम्पत्ति लेकर दूसरे राज्य में चले जाओ । पुत्र समझदार थे, धन लेकर दूसरे राज्य में चले गये । तदुपरान्त बची हुई सम्पत्ति गरीबों में वितरित कर मंत्री समर्थ गुरु की शरण में सत्य की आज्ञा में उपस्थित हुए । इस प्रकार दूसरों के लिये भी तत्पर बने मंत्री ने संयम स्वीकार कर लिया । जब वह राज्य में नहीं रहा तो व्यवस्था बिगड़ने लगी । अव्यवस्था हुई तो प्रजा राजा के द्वार खटखटाने लगी । राजा ने पूछा- मंत्री कहाँ गया ? उत्तर मिला- वह तो साधु बन गया । राजा मंत्री के पास पहुँचा- तुमने यह क्या किया दीवानजी ? सारी सत्ता तुम्हारे हाथ में थी, तुम ही कर्ता-धर्ता थे, फिर सन्यास क्यों लिया ? यहाँ क्या पड़ा है, माँग कर रोटी खाते हो, पास में सम्पत्ति नहीं हैं, लोगों के दुर्व्यवहार और अपमान का पात्र बनते हो ।

मंत्री ने सोचा- अभी तो मुझे सन्यास लिये चार दिन ही हुए हैं, चार दिन का ही यह परिणाम रहा है तो आगे और कितना शुभ होगा, पता नहीं । उसने राजा से कहा- पराबैंगनी किरणों से संतप्त था तथा परिवार एवं सम्पत्ति के होते हुए भी मन से अशांत था एवं भविष्य के बारे में चिन्तातुर था, किन्तु जैसे ही सत्य की आज्ञा में गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ तो वे सभी चिन्ताएँ दूर हो गईं । मात्र चार दिन में ही अपार आनंद

की अनुभूति कर रहा हूँ। एक वह स्थिति थी जहाँ मैं आपसे बात करने के लिये घंटों इन्तजार करता, तब कहीं आपको सूचना दे पाता था और तब कहीं आपका मार्गदर्शन ले पाता था। पर इन चार दिनों के परिवर्तन का प्रभाव देखिये, आपके द्वार पर मुझे नहीं आना पड़ा, आप मेरे द्वार पर आये हैं। क्या यह तप का प्रतिफल नहीं हैं ? चार दिन में ही वे राजा मनाने आ गये, जिसके द्वार पर मैं ६ घंटे बैठा रहता था, तब दर्शनों की इजाजत मिलती थी। अल्प समय का ही यदि यह परिणाम हैं तो आगे तप का परिणाम क्या, कैसा होगा, कौन बता सकता है ? यह तो एक रूपक हैं, परन्तु ऐसी स्थितियाँ घटित होती रहती हैं। समझने की बात यह है कि जब तक व्यक्ति आस्रव को, अव्रत को जान न ले और खुला चले तो सारे के सारे आस्रव से कर्म उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं। इसे यों समझें- यदि हमने खेत खुला छोड़ दिया, मर्यादा की बाड़ नहीं लगाई तो वह खेत आने-जाने का मार्ग बन जायेगा। यदि जीवन को नियमित-संयमित नहीं किया तो कर्मों का आगमन बना रहेगा। आँधी के साथ जैसे कचरा आता है, वैसे ही कर्मों का कचरा आता रहेगा, उसे जब तक अलग नहीं किया जाता, तब तक शांति की श्वाँस नहीं ले पायेंगे, आनंद नहीं मिलेगा। बल्कि हम कोल्हू के बैल की तरह चक्कर लगाते रहेंगे।

हमें सोचना है कि जब हमें मनुष्य का जन्म मिला है, तब इन पराबैंगनी किरणों से बचने के उपाय करें। क्योंकि वे किरणें यदि भूमि पर पड़ने लग जायेंगी तो इस भूमि को ऊसर बना देगी और प्राणियों को संतप्त कर देंगी। इस प्रकार आस्रव की किरणें यदि आत्मा को ऊसर बना देगी तो फिर उस खेत को सरसब्ज बनाने के लिये काफी मेहनत करनी पड़ेगी, तब कहीं जाकर उस मिट्टी से कुछ प्राप्त हो पायेगा। खेत को उपजाऊ बनाने के लिये मेहनत करनी पड़ती है। आत्मा को फौलादी अथवा मजबूत तभी बनाया जा सकता है, जब उन किरणों को रोक लें और आत्मा पर इन्हें ने पड़ने दें। पर इसके लिये तैयारी करनी पड़ेगी। प्रभु ने हमें जो विधि-निषेध बताये हैं, उनका ज्ञान करके फिर उन पर आचरण करें तो

जीवन में बहुत आनंद प्राप्त कर पायेंगे । सत्य को उपलब्ध कर आत्मा को मृत्यु भय से ऊपर उठा लेंगे तो वहाँ भय नहीं रहेगा । मृत्यु आ जाये और कहे- मैं तुम्हें लेने आई हूँ तो उसे उत्तर मिले- मैं तैयार हूँ । हम जानते हैं कि जो स्वयं जाने को तैयार है, उसे भय कैसा ? भय तो उसे होता है, जो बचना चाहता है । इसलिये कहते हैं- संत तो कफन लेकर निकलते हैं ।

त्याग-प्रत्याख्यान कर जो पंडित मरण को स्वीकार करता है, मृत्यु उसे भयभीत नहीं कर पाती । वह तो स्वयं मरने की तैयारी में होता है । हम ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करें, जो हमें अजर-अमर-शाश्वत स्थान पर पहुँचाने वाली है । संथारा ग्रहण करने वाला जीवन-मरण की आकांक्षा नहीं रखता । जीवन में आनंद है तो मरण में भी आनंद है, क्योंकि जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित हो गया, उसके लिये तो जैसा जीवन, वैसा ही मरण । उसे न जीवन से प्रेम होता है, न मरण से भय होता है, वह निर्भय होता है । इसलिये कवि आनन्दघनजी ने बताया है कि प्रभु भक्ति करने वाले में अभय होना पहली आवश्यकता है । सात भयों में मृत्यु को भी भय कहा गया है । मृत्यु में भी अभय की अवस्था तब होती है, जब व्यक्ति सत्य की आज्ञा में उपस्थित हो जाता है । वहाँ भय नहीं रहता, सतत अभय की अवस्था बनी रहती है । अतः आत्मा के शाश्वत स्वरूप को जानकर, प्रभु के चरणों में स्वयं को प्रस्तुत कर देना, जीवन का परम लक्ष्य बना लेना चाहिये ।

दिनांक : ४.१.१९९७, भीण्डर

१३. तीसरी आँख का रहस्य

संभव देव ते धुर सेवो सवे रे....।
आयत चक्खू लोग विपस्सी....।।

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की यह दिव्य देशना सर्वकालों में और सर्वत्र हमारे ज्ञान चक्षु खोलने वाली है । भव्य आत्माओं के ज्ञान चक्षु खोलने के लिये ही प्रभु महावीर ने संबोधित किया था- "आयत चक्खू लोग विपस्सी उड्ढं लोगं जाणइ, अधो लोगं जाणइ तिरिय लोगं जाणइ ।" प्रभु के भाव को हम समझें । उन्होंने कहा था कि तू बहुत सीमित दायरे में देख रहा है । उनका संबोधन हम सभी के प्रति है । अभी हम जिन आँखों से देख रहे हैं, उनका देखने का क्षेत्र बहुत सीमित है । इस सीमित क्षेत्र में भी जब तक सन्निधान नहीं है और यदि बीच में अवरोध आ जायें तो आँखें उतने सीमित क्षेत्र में देखनें में भी सक्षम नहीं रहती । अतः सोचें कि रूकावट के कारण क्या हैं ?

प्रभु ने कहा है- यदि तू देखना चाहता है तो 'आयत चक्खू' अर्थात् आँख को लम्बी कर या दीर्घ दृष्टि का उद्‌घाटन कर ले । दीर्घ दृष्टि का उद्‌घाटन कैसे हो ? कभी-कभी कहा जाता है कि तीसरा नेत्र खुल जाय तो व्यक्ति कृतकृत्य हो जाय । तीसरे नेत्र से अभिप्राय क्या है ? अब तक हम दो आँखों से देखते रहे हैं । इनसे जो देखा जा रहा है, उसका निर्णय करने वाला भी अलग है । देखने वाला अलग है, सुनने वाला अलग है, कथन करने वाला साधन अलग है । ये सारे कार्य अलग-अलग हो रहे हैं, एक साधन से संपन्न नहीं हो रहे हैं । आँखें देखती है, मुँह व्यक्त करता है, कान सुनता है और अभिव्यक्ति का कार्य तालु-गले द्वारा मुँह से संपन्न

होता हैं । जब ये सारे अलग-अलग तंत्र हैं, तब सुनी हुई बात जो मुँह से कही जाय, वह सत्य कैसे हो सकती है ? देखने वाला भिन्न है, कहने वाला भिन्न है, फिर उस अभिव्यक्ति पर विश्वास कैसे करे ? परन्तु यदि किंचित् गहन चिन्तन करें तो स्पष्ट होगा कि यद्यपि देखने, सुनने, कहने आदि के ऊपरी यंत्र भिन्न-भिन्न हैं तथापि इन्हें जहाँ से शक्ति अथवा क्षमता प्राप्त होती है अथवा जो निर्णायक केन्द्र है, वह एक है । उसी के माध्यम से इनका संचालन होता है । सारी रिपोर्ट्स एवं खबरें इन यंत्रों के माध्यम से केन्द्र में पहुँचती है । केन्द्र में उन पर जो निर्णय होता है, उसी के आधार पर इन्द्रियाँ गतिशील होती हैं । परन्तु यह एक ऐसा सत्य है जिसका ज्ञान इन चर्म चक्षुओं से नहीं हो सकता । उसके लिये गहरी निगाह उत्पन्न करनी होगी ।

प्रभु महावीर कहते हैं- 'आयत चक्खू' - दृष्टि को पैनी कर लो तो इस शरीर में रहते हुए भी पूरे लोक का ज्ञान कर सकते हो । लोक क्या है ? यह समझना भी आवश्यक है । हमें जितना दिखाई देता है अथवा जितना हम देख पाते हैं, उतना ही लोक नहीं है और जितना देखते हैं, उतना देखना भी अधूरा है । उसे ही यदि पूरा मान लें तो उसे अज्ञान कहा जाता है । जो उतना ही नहीं है, उसे यदि उतने में सीमित कहा जाय तो यह यथार्थ दृष्टि नहीं है । दृष्टि यदि आयत चक्षु बन जाय, वह उद्घाटित हो जाय तो इस शरीर में रहते हुए ही उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक का ज्ञान हो सकता है । उर्ध्वलोक में क्या रचना है, वहाँ किस-किस प्रकार की स्थिति है, इस सब का ज्ञान व्यक्ति कहीं दूर जाकर नहीं, यहीं बैठे-बैठे कर सकता हैं, आज यह विषय समझने में बहुत सुविधा है, क्योंकि विज्ञान जो उन्नति कर रहा है, उसके कारण व्यक्ति की बुद्धि तीक्ष्ण हुई है । वह गहन विषय को भी गहराई से समझ रहा है, क्योंकि उस हेतु साधन हैं । पहले कोई अमेरिका की बात कहता था तो आश्चर्य होता था कि क्या ये अमेरिका की बातें जानता है ? पर आज अमेरिका, रूस, पाकिस्तान या अन्य कहीं क्या हो रहा है, उसे कोई विशिष्ट व्यक्ति ही नहीं

जानता, सामान्य व्यक्ति भी जान लेता है । कुछ बातें अखबार से, कुछ टी.वी. से, कुछ रेडियो न्यूज से जान ली जाती हैं । आज व्यक्ति घर पर बैठा हुआ ही दुनियाँ देख रहा है । ये सारे कार्य कैसे संपन्न होते हैं, उस तकनीक की सामान्य जानकारी हम सभी रखते हैं । ये सब कार्य यंत्रों से संपन्न होते हैं । ये यंत्र आज सामने हैं, किन्तु इनका यदि एक तार भी कहीं से खिसक जाये तो ये सारे फेल हो जायेंगे । यदि भीतर के यंत्र को जाग्रत कर लें तो फिर उनकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी । यहाँ बैठे-बैठे ही सारे लोकों के बारे में जान सकेंगे । तब फिर बाह्य अथवा भौतिक यंत्रों पर निर्भरता क्यों रखें । यह भी समझ लें कि जानकर करना क्या है ।

कोई कह सकता है कि लोक दिखता नहीं है तो विश्वास कैसे करें ? परन्तु यह भ्रामक चिन्तन हुआ । आज भले ही कोई विदेश न गया हो और वहाँ की स्थिति न देखी हो, पर वहाँ की बातों पर विश्वास करता है, क्योंकि वैज्ञानिक साधन सारी जानकारी प्रदान कर देते हैं । पहले व्यक्ति कल्पना करता था कि मैं आकाश में उड़ पाऊँ । पक्षियों को देखकर ऐसे विचार करता था, किन्तु विज्ञान ने प्रयोग किया और सिद्ध कर दिया कि तुम आकाश में भी उड़ सकते हो । पहले कभी विचार नहीं किया होगा कि सुदूर बसे व्यक्ति को भी हम देख या सुन पायेंगे । किन्तु आज दूर बैठे उससे वार्तालाप भी कर लेते हैं। आज टपाल का कार्य तो ठप्प हो गया है, कौन चिट्ठी लिखें, फोन उठाओ और तत्काल अपनी बात कह दो । विज्ञान की यह शक्ति बाहर के पदार्थों में लग रही है, इसलिये बाहर के रहस्य उद्घाटित हो रहे हैं । यदि यही शक्ति भीतर के तत्त्व को उजागर करने में लगे तो भीतर के यंत्रों को सक्रिय कर सकती है । आज मनोविज्ञान कहता हैं कि यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व को बदलना है तो उसके जीन्स को बदल दो । इस प्रकार उसके विचारों में बहुत परिवर्तन हो सकता है । आमूल-चूल परिवर्तन भी संभव है । हमें लगता है उसने बहुत बड़ी उपलब्धि प्राप्त कर ली है, जीन्स से रूपान्तरण का मार्ग खोज लिया है । हमें लगता है कि इस प्रकार क्रांतिकारी कदम उठाया गया है, पर यदि हम

अपने अंतर्मन में झाँक कर देखें तो हमें ज्ञात होगा कि ऐसी शक्ति तो स्वयं हम में ही निहित है ।

तीर्थंकर देवों ने बहुत पहले ही हमें इसका फार्मूला दे दिया था । पर हमने उसे उपयोग में नही लिया या यों कहें कि वह हमारी तिजोरी में है किन्तु उस तिजोरी की चाबी दूसरी जगह रह गई है । हमने चाबी को पहचाना ही नहीं । आजकल ऐसे ताले आते हैं कि जब तक नम्बर का मिलान नहीं करें तो चाबी भले ही उसी की हो पर ताला नहीं खुलेगा । नम्बर का मिलान हो जायें तो ताला खुल जायेगा । इसका तो आपको अनुभव है । वैसे ही वीतराग वाणी में निहित तथ्यों के रहस्य को समझें । शक्ति की जो तकनीक भीतर रही हुई है, ज्ञान के माध्यम से उसे हम प्रकट कर सकते हैं । यही बताने के लिये प्रभु ने कहा है- आयत चक्खू.... तुम्हारे पास शक्ति है, तुम्हें शक्ति प्राप्त है, बस उसका प्रकटीकरण करना है । वह ऐसी शक्ति है जो बाहर से प्राप्त नहीं होगी, उसका आयात भी नहीं होगा, उसे तो भीतर से ही उद्घाटित करना होगा । अपने स्वयं में प्रकट करना होगा, परन्तु प्रकट करने के लिये उस पर जो आवरण चढ़ा है, परतों पर जो परतें चढ़ी हैं, उन्हें दूर करना होगा । जब तक उन्हें दूर नहीं किया जायेगा, तब तक हमें अपने वास्तविक अस्तित्व का ज्ञान नहीं होगा । चिन्तन की बात यह है कि जो आवरण है, जो परतें हैं, उन्हें दूर कैसे की जाय ?

मनोवैज्ञानिक मैक्समूलर ने कहा हैं- चित्तवृत्तियों के स्वरूप और प्रकृति को समझ कर उनके आधार पर जीवन का परिमार्जन किया जा सकता है । मनोविज्ञान उसके लिये समुचित आधार प्रदान करता है । ज्योतिष विद्या के माध्यम से भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझा और बदला जा सकता है । अनेक मार्ग हैं, पर हम प्रयोग में स्वार्थी बन गये हैं । उन मार्गों को हमने उदरपूर्ति का साधन बना लिया है । परिणाम यह हुआ है कि ज्ञान उपासना गौण हो गई है । विद्या को हमने ज्यादा से ज्यादा पैसे अथवा यश अर्जित करने का साधन बना लिया है । जब भौतिक लाभ की

भावना प्रमुख हो जाती है, तब ज्ञान की साधना गौण हो जाती है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान के सूत्र लुप्त होते जा रहे हैं और जो उपलब्ध हैं, वे भी योग्य पात्र के अभाव में व्यर्थ जा रहे हैं। मनोविज्ञान और ज्योतिष विद्या से परिवर्तन की संभावना बनती है, जैन सिद्धान्तों में भी ऐसी सूत्र है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का रेखांकन करने में सक्षम है। यदि कोई सोचे कि यह कार्य तो विद्वान् ही कर सकता है तो यह भी समझने की बात है कि विद्वान् अलग हैं, ज्ञानी अलग हैं। विद्वान् बनता है- मस्तिष्क से। विद्वान् इतने पैदा किये जा रहे हैं कि जगह-जगह ऑफिसों में जैसे कम्प्यूटर जो लाखों-करोड़ों का हिसाब एक क्षण में कर दे। विद्वता मस्तिष्क की पैदाईश है। ज्ञानी की पैदाईश आत्मा की साक्षी में है। आप तर्क-वितर्क के माध्यम से बालकों को विज्ञान भले समझा दें, क्योंकि वह सर्वत्र एक और एकरूप है। पर अन्तर से बोलने वालों में भिन्नता होती है। अन्तर यदि साफ नहीं हैं तो मस्तिष्क की प्रखरता कोई अर्थ नहीं रखती। अन्तर से तो शुद्ध आवाज भी आती है, पर यदि मस्तिष्क की शुद्धता नहीं तो व्यक्ति उस आवाज को रौंदता-कुचलता आगे बढ़ जाता है। विद्वता अन्दर की आवाज को अभिव्यक्ति दे सके, यह आवश्यक नहीं है। यह भी कहा जाता है कि जो जैसे कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। पर बात बिल्कुल ऐसी नहीं है। हम बात पूरी जानते हैं, यद्यपि जैसे बाँधे, वैसे भोगे यह बात भी सही है। कहा भी गया है-

"कड्डाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।"

कृत कर्मों का भुगतान किये बिना मुक्ति नहीं होती पर यदि कर्म सिद्धान्त की गहराई में उतरें तो वहाँ कहा गया है कि परिवर्तन किया जा सकता है। चिकित्सा विज्ञान जीन्स से परिवर्तन की बात करता है। हमारे यहाँ भी बहुत से आख्यान प्रचलित हैं। रामायण लिखने वाले महर्षि वाल्मीकि पहले डाकू थे। रोहिणेय चोर से पिता ने कहा था- बेटे! प्रभु महावीर के वचन मत सुनना। सुना तो जीवन बरबाद हो जायेगा। किन्तु वही चोर जा रहा था। पैर का काँटा निकालने बैठा, कुछेक शब्द सुने तो

जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया। इसे चाहे तो जीन्स का परिवर्तन कह दें, चाहे अध्यवसायों का। जीन्स का तात्पर्य है- वे कोशिकाएँ जिन पर हमारे संस्कार लिपिबद्ध होते हैं। यदि वहाँ दूसरे बिठा दें तो वैसा ही परिवर्तन हो जायेगा, जैसे टाइप के अक्षरों को हटाकर उनके स्थान पर दूसरे अक्षर जमा दें। उदाहरणार्थ यदि 'अ' की जगह 'ए' कर दें और 'अ' के स्थान पर 'स' कर दें तो वे अक्षर ही आ जायेंगे। जैसे ये परिवर्तन कर सकते हैं, वैसे ही जीन्स में परिवर्तन किया जा सकता है। कोई व्यक्ति कर्म उपार्जित करता है। वह शुभ भावों के बदौलत बहुत से पुण्य का संचय कर लेता है। इसके भी चार भंग बताये गये हैं-

१. पुण्य का संचय और फल पुण्य-रूप में,
२. पाप का संचय और फल भी पाप-रूप में,
३. पुण्य का संचय फल पाप-रूप में,
४. पाप का संचय फल पुण्य-रूप में।

प्रथम दो भंगों में तो विकल्प नहीं है। जैसे अक्षर टाइप में फिट किये, वैसे टाइप हो गये। अर्थात् पुण्य का फल पुण्य-रूप में और पाप का फल पाप-रूप में मिला। किन्तु पुण्य से पाप का भोग कैसे होता है, इसे आगम के धरातल पर देखना होगा। नन्दन मणियार का एक वृत्तांत है, जिसने बावड़ी-बगीचे बनाये और बहुत पुण्य संचय किया, पर उसी के साथ मस्तिष्क का कार्य भी चालू रखा। वाहवाही सुनने में, यश में लगा तो पुण्य के साथ अहं का भाव जुड़ गया। सोचता था- देखो मैंने कैसे-कैसे कार्य किये! चारों ओर यशगान से, जो पुण्य- कार्य शुभ भावों से अर्जित किया था, उसमें परिवर्तन आ गया। बावड़ी के प्रति रागभाव जगा, परिणाम स्वरूप तिर्यंच आयु का बंध कर लिया। पुण्य का बंध किया, पर पाप (राग भाव) के प्रभाव से तिर्यंच में मेंढ़क/दुर्दुर का जन्म मिला। परिवर्तन हम अपने आप में करते हैं। यदि हम सही अध्यवसायों को लेकर चलें तो जैसा संचय करेंगे, वैसा लाभ मिलेगा। अन्यथा भले ही कमाई करते चले जाय पर परिणाम उल्टा ही निकलेगा। यदि धन का संचय कर लिया है तो

परोपकार भी करें अन्यथा छापा पड़ गया तो सम्पत्ति तो वहाँ भी निकलेगी, पर निकलने-निकलने में अंतर होगा। एक में तो मन से परोपकार किया गया और सम्पत्ति का उपयोग जनहित अथवा प्राणी-सुरक्षा के लिये हुआ, जबकि दूसरे में सम्पत्ति तिजोरी में भर ली थी, सरकार को संदेह हुआ, कोई शिकायत हो गई, छापा पड़ गया। छापा डालने वालों को भी कोई न कोई गलती मिल ही जाती है। व्यक्ति कितना ही सावधान रहे पर चोर सुराग छोड़ ही जाता है। वह जल्दबाजी में होता है, कहीं पकड़ा न जाऊँ, परिणाम स्वरूप लापरवाही में कोई निशान रह ही जाते हैं। पकड़ में आने के बाद तो पैसे निकालने ही पड़ते हैं। पैसे तो उसमें भी निकले पर भावों में अन्तर आ गया। ऐसा ही कर्मों के संचय में होता है।

व्यक्तित्व को बदलने का कार्य आध्यात्मिक विचारों से, व्यक्ति के संस्कारों से अथवा संतों के माध्यम से संभव होता है। उदाहरणार्थ भगवान् महावीर उपदेश दे रहे थे- गौतम स्वामी पहुँचे थे- विजय पाने के लिये पर जैसे ही भगवान् ने संबोधित किया, वे भगवान् के शिष्य बन गये। अर्जुनमाली हिंसक था पर भगवान् के पास पहुँचा तो उसके चरित्र में परिवर्तन हो गया। इस प्रकार प्रभु की वाणी के माध्यम से भी रूपान्तरण हो सकता है। यह कार्य उसी प्रकार सहज प्रक्रिया के रूप में होता है। जैसे मीटर घुमाते ही यंत्र की प्रक्रिया में परिवर्तन हो जाता है अथवा पंखे का बटन दबाने से पंखे के चालू हो जाने में देखा जा सकता है। यदि पंखे की गति को कम-ज्यादा करना है तो रेग्युलेटर घुमाया जाता है, पूरा घुमाने पर वह फुल स्पीड में भी आ सकता है और कम घुमाया तो कम भी हो सकता है। हमारे मन के पंखे को संत घुमाने का कार्य करते हैं। यह घूम जाय तो जो मन ठप्प पड़ा था, वह फुल स्पीड में आ सकता है और फुल स्पीड वाला घूम जाये तो ठप्प भी हो सकता है। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं- परिचय पातक घातक साधु सूं रे...। इसका यदि कोई अर्थ लगायें तो यह भी अर्थ लगा सकता हैं कि साधु का परिचय घातक है। किन्तु यहाँ भाव यह है कि उनका परिचय पाप की घात करने वाला है। वे मन के

रेग्युलेटर को घुमाते हैं। घुमाये कि पाप के परमाणु दौड़ने लगते हैं। जैसे रेग्युलेटर घुमाने से रुका हुआ पंखा चल पड़ता है, वैसे ही पाप के परमाणु जो रुके हुए अथवा अन्य स्थितियों में थे, वे अशुभ परमाणु, शुभ अध्यवसाय रूपी रेग्युलेटर से पुण्य-रूप में परिणित हो जाते हैं। कवि ने भी कहा है- 'अकुशल अपचय चेत।' आपने अकुशलता से अर्थात् मिथ्यात्व से जो कुछ संचय कर लिया है अर्थात् अपने में रोक लिया है, वह साधु के संबंध के रेग्युलेटर से चलित हो जाता है। परन्तु यह रेग्युलेटर घुमाने वाले भी आप ही हैं, वे तो सिर्फ निमित्त हैं, कड़ी जोड़ने वाले हैं, सक्रिय तो आपको ही होना पड़ेगा। हम जानते हैं कि इंजन ही डिब्बों को खींचता है, लाइनमेन तो सिर्फ उन्हें इंजन से जोड़ देता है। जोड़ा कि इंजन उन्हें लेकर यथास्थान पहुँचा देता है। संत जोड़ने में माध्यम हैं। उनके साथ संबंध किया तो चित्तबुद्धि में जो कुछ संचय किया था उसे अलग कर, पाप का घात करते हैं। आत्मा का स्वरूप उजागर करके- आयत चक्खु... बना देते हैं।

सिडनी की घटना है- एक बालिका रेडियो में समाचार सुन रही थी, अचानक उसे ध्यान आया कि लाटरी टिकट में पचास लाख डालर का ईनाम निकला है, किन्तु अब तक टिकट का मालिक वहाँ नहीं पहुँचा ! वह टिकट जिस मोहल्ले में बिका था, संयोग से लड़की भी उसी मोहल्ले में रहने वाली थी। उसने विचार किया कि टिकट धारी यदि इसी मोहल्ले का है तो उसकी खोज करनी चाहिये। उसने माता से कहा। माता ने भी कहा- हो सकता है कोई लापरवाह व्यक्ति हो, ध्यान न रखा हो, टिकट यूँ ही फेंक दिया हो या बच्चों अथवा नौकरों ने बाहर फेंक दिया हो। तो चलो पहले कचरा पेटी ही संभाल लें। वे दोनों पहुँची, कचरा पेटी को खोला। उसमें गंदगी भरी पड़ी थी। वे गंदगी देख रही थीं, पर उसमें हाथ डालना उन्हें बुरा नहीं लगा, अन्यथा तो व्यक्ति नाक पर रूमाल रखने को मजबूर हो जाता हैं। किन्तु यहाँ तो लालसा थी। वे कचरे की छंटनी करने लगीं। उसमें अंडे के छिलकें सहित जो गंदगी थी, उसे अलग किया। वे कचरा

बेखेर कर देख रहीं थीं कि अचानक वह टिकट भी मिल गया। नम्बर पढ़े तो वे ही नम्बर थे। उन्होंने लेकर प्रस्तुत किया और पचास लाख डालर प्राप्त कर लिये। अब सोचें कि पचास लाख डालर कैसे प्राप्त हुए ? निश्चय ही कचरे की पेटी में टिकट मिल जाने से। वैसे ही यह शरीर की पेटी है, जिसमें कर्मों का कचरा भरा हुआ है। आप आत्मा को पाना तो चाहते हैं पर बोध नहीं है। लेकिन जैसे रेडियो समाचार ने माँ-बेटी को सक्रिय कर दिया था, वैसे ही आप भी संतों को सुन कर यदि सक्रिय हो जायें और ये भाव जागें-

"हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे म्हारे खरुं।"

मैं कौन हूँ ? यह चिनगारी यदि लगी और रेडियो न्यूज के भाँति संतों की वाणी सुन उस ओर जीवन को ढ़ालने का प्रयत्न किया तो सफलता निश्चित रूप से मिलेगी।

एक बार जिसने आराधना कर ली, समझ लें कि वह नरक-निगोद में नहीं जायेगा। ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति देव और मनुष्य के भव करके सिद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार हो जाता है। उसके पाप झड़ जाते हैं। पर हम संतों की वाणी केवल औपचारिकता से सुन कर रह जाते हैं। आज रविवार है, दुकान बंद है तो महाराज के चलो। दर्शन कर लो, नहीं तो भीण्डर वालों का उलाहना रह जायेगा। केवल औपचारिकता से न निभायें, किन्तु जिज्ञासा के भाव से सुनें और चाह रखें कि हमें कुछ लेना है। यदि ऐसा हो तो संत वाणी कचरे में मिली हुई आत्मा के नम्बर मिला देगी और इस प्रकार ढूंढते हुए हम इस प्रश्न के उत्तर तक पहुँच जायेंगे कि "हुं कोण छुं ?" परन्तु यदि आलस किया और सोचा कि- कचरे में पड़ा है तो पड़ा रहने दो तो लाटरी नहीं निकलेगी। लाटरी निकालनी है तो आप शरीर में रहते हुए ही दीर्घ दृष्टि को प्राप्त करें। तब शरीर में रहते हुए ही ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक, तीनों लोकों को जान लेंगे। यह केवल कितावी ज्ञान नहीं होगा, जो सिद्धान्त में ही हो परन्तु साक्षात् होगा

और जैसे आप टी.वी. में देख लेते हैं, अपने भीतर भी देख लेंगे। सत्य तो यह है कि वह नजारा हमारे भीतर है, पर हम जान नहीं रहे हैं। हम यह भी समझ लें कि ऊपर की औपचारिकता में अस्तित्त्व का बोध नहीं होगा। अतः औपचारिकता से ऊपर उठ कर खोज प्रारंभ करें। जैसे वैज्ञानिक आगे बढ़ते हैं, वैसे ही हम भी शरीर से खोज प्रारंभ करें। हमें स्वतः ही आगे से आगे के सूत्र मिलते जायेंगे। उन सूत्रों के आधार पर हम आगे बढ़ें। वैज्ञानिक एकदम छलांग नहीं लगाते, उन्हें नये-नये स्रोत मिलते हैं, उन्हीं के आधार पर वे खोज करते हैं। उसी के आधार पर उन्होंने आकाश में अपोलो भेजा और पाताल में पनडुब्बी। आध्यात्म में भी ऐसी ही शक्ति है किन्तु हम उससे अनभिज्ञ हैं। अतः बारीकी से खोज में लग जायें। दुर्गम घाटियाँ भी आयेगी, पर घबरावें नहीं। पहले उदयपुर और चित्तौड़ के किलों को जीतने में दिल्ली के बादशाह भी सक्षम नहीं होते थे, क्योंकि किले के निवासियों को पहले ही ज्ञात हो जाता था और वे किले के ऊपर से प्रहार प्रारंभ कर देते थे, परिणाम स्वरूप मुगल सेना में भगदड़ मच जाती थी। वैसे ही हमारे भीतर भी दुर्गम घाटियाँ हैं, जिनमें पैर सुन्न हो जाते हैं और हम घबरा जाते हैं। कवि कहते हैं-

'खेद प्रवृत्ति ओ करता थाकिये रे...।'

व्यक्ति थक जाता है, खेद करता है, मैंने इतने वर्ष धर्मध्यान किया पर पाया क्या ? विजय नहीं मिली। लेकिन हताशा से ग्रस्त व्यक्ति यह नहीं सोचता कि जब इतना श्रम करके वह इतनी दूरी तक पहुँचा है तो थोड़ा सा पुरुषार्थ और कर लें तथा किले को फतह कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र का झंडा फहरा दें। यदि हम अपने आसपास देखें तो इस असफलता का असली कारण भी ज्ञात हो जायेगा। व्यक्ति श्रम और पुरुषार्थ करता तो है परन्तु अपेक्षित दिशा में नहीं। वह खोज भी करता है परन्तु पैसे की। उसकी चिन्ता रहती है कि कैसे पैसे का जुगाड़ हो ? उसके लिये वह टी.वी., रेडियो, अखबार आदि से तेजी-मंदी के समाचार जानेगा। इन प्रयासों में वह जितना समय लगाता है, यदि उसका चौथाई भी ईमानदारी

के साथ मन, वचन और काया की एकाग्रता के साथ लगाये तो आत्मा के केन्द्र को जागृत कर 'आयत चक्खू' की स्थिति भी प्राप्त कर सकता है। ऐसा जागरण हो जाय तो वह भीतर की रौनक को भी देख पायेगा अन्यथा सुन लेने मात्र से विजय हासिल नहीं होगी ।

हम इस एक सूत्र को ही लेकर खोज शुरू करें, मैं कौन हूँ ? फिर आगे बढ़ें तब ज्ञान होगा कि मैं कहाँ से आया हूँ ? फिर और आगे तो पता चलेगा कि मेरा स्वरूप क्या है ? इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार के हमें एक के बाद एक नये-नये सुराग मिलते जायेंगे। आगे बढ़े तो कुछ न कुछ प्राप्ति के संकेत अनुभूत होंगे । इन प्राप्तियों को एकत्र करते चलें, संकेतों और संतों के मार्गदर्शन के अनुसार आगे बढ़ते चलें तो परम सत्य की अनुभूति होती जायेगी । यह होगी सभी प्रकार के अवरोधों से रहित असीमित क्षेत्र में देख सकने की स्थिति । हम चाहें तो इसे ही तीसरा नेत्र खुल जाना कह लें, परन्तु यही होगी कृतकृत्य होने की वह स्थिति, जो आत्मा का लक्ष्य है ।

दिनांक : ५.१.१९९७, भीण्डर

१४. सिध्द भगवान् से मिलन की चाह

जय जय जय भगवान्....।

सिद्ध परमात्मा की स्तुति भव्यात्माओं में एक नई जागृति, नया उत्साह और नई उमंग पैदा करने वाली है। विचार करें कि सिद्ध भगवान् की स्तुति ऐसी क्यों हैं। ऐसी इसलिये हैं कि सिद्ध भगवान् और हममें वास्तव में भेद नहीं है। कहा गया है-

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म मैल का अंतरा, बूझै बिरला कोय ।।

बहुत दिनों तक जिनका हमारे बीच संयोग रहा, बहुत समय हम जिनके साथ खेले, क्रीड़ा की, मित्रवत् व्यवहार रहा और जब उनके साथ मिलाप का अवसर आता है या हम उनके संवाद को सुनते हैं अथवा उनके समाचार सुनने में आते हैं तो प्रेरणा जागृत होती है, मन चाहता है कि मैं उस मित्र से मिलूँ। ऐसी चाहत बननी स्वाभाविक है। सिद्ध भगवान् हमारे मित्र रहे थे, हमारा उनके साथ बहुत लगाव था। एक नहीं अनेक भवों में हम साथ-साथ रहे। साथ में खेलना, उठना-बैठना किया। ये क्रियाएँ हमारी आत्मा ने सिद्ध भगवान् के साथ की हैं। उनके साथ मित्रवत् व्यवहार रहा है, इसलिये जब उनका स्मरण या स्तुति करते हैं तो सहज ही मन में उमंग जगती है।

'तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ, ऐसा हो संधान।'

तुमसे बहुत बिछोह रहा, इतना काल बीत गया, इतने समय तक मैं अज्ञान में रहा, तुम्हें ढूंढता रहा कि मेरा मित्र किधर गया पर मुझे ज्ञान नहीं हो पाया। इस स्थिति को मेवाड़ के इतिहास के संदर्भ में समझें।

गाँव के कई साथी थे, जो साथ में रहे और साथ ही गाय-बकरियाँ चराईं। संयोग से एक के शारीरिक लक्षणों को देखकर किसी ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। उदयपुर के महाराणा के बारे में कुछ ऐसा ही सुना है। कहते हैं- फतेहसिंहजी पहले चारवाहा थे। क्या वे कभी सोच सकते थे कि वे उदयपुर-मेवाड़ के तख्त पर आसीन हो जायेंगे ? उनके साथियों ने भी क्या कभी सोचा होगा कि उनका जिगरी मित्र मेवाड़ के तख्त पर पहुँच जायेगा ? उनके वे चारवाहे मित्र यदि कभी उदयपुर पहुँच जाय तो महाराणा को देखकर वे कितने प्रसन्न होंगे या फतेहसिंहजी उनके गाँव में आ जायें तो चरवाहों को कितनी प्रसन्नता होगी। इसकी कभी कल्पना की है ? मित्रों से मिलकर मित्र को जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी ही प्रसन्नता सिद्ध भगवान् के साथ हमें रहने से होगी, क्योंकि हमारा उनके साथ बहुत पुराना संबंध रहा है। भव-भव में हम साथ रहे हैं। आप कहेंगे- इसका क्या प्रमाण है ? है क्या प्रमाण ? प्रभु महावीर के साथ या प्रभु ऋषभदेव के साथ रहे हैं क्या ? दर्शन किये हैं क्या ? अब तक अनंत सिद्धों के साथ हमारी आत्मा रह चुकी है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से पृच्छा की- भगवन् ! संसार में जितनी आत्माएँ हैं, उनके साथ माता-पिता, भाई-बंधु, भगिनी, मित्र आदि के रूप में हमारे संबंध रहे हैं ? भगवान् ने कहा- अट्ठे समट्ठे।

यह अर्थ समर्थ है। कितनी बार संबंध हुआ ? एक-दो बार हुआ या अधिक बार ? भगवान् ने कहा- अनंत खुतो, अर्थात् अनंत बार संबंध हुआ है। आप विचार कीजिये जिनसे इतना घनिष्ठ संबंध रहा, उन्हीं की बात जब करें तो क्या भीतर प्रेरणा नहीं जगेगी कि मेरा एक मित्र वहाँ पहुँच गया और मैं यहीं बैठा हूँ ? इसलिये कहा गया है कि सिद्ध भगवान् की स्तुति प्रत्येक के मन में नई प्रेरणा देने वाली होती है, बशर्ते यह स्तुति ज्ञान पूर्वक तथा भक्ति के साथ की गई हो। भक्ति के बिना केवल शब्द उच्चारण कर लिया तो वह आनंद-उमंग नहीं आयेगी। आप और हम सिद्ध भगवान् की स्तुति कर गये, एक बात आई कि 'तुझमें मुझमें भेद न

पाऊँ,' भेद दूर करना है परन्तु विचारणीय यह है कि भेद क्यों पड़ा ? पहले तो हम सभी साथ-साथ थे, फिर भेद क्यों पड़ा ? भेद इसलिये पड़ा कि उन्होंने निज स्वरूप का ज्ञान कर लिया लेकिन हम नहीं कर पाये । जब तक व्यक्ति को निज का ज्ञान नहीं, वह इधर-उधर घूमता फिरता रहता है, उसे अता-पता नहीं रहता कि वह कौन है, कहाँ से आया है और उसे क्या करना है ?

एक नगर सेठ का लड़का था । छोटी उम्र में माता-पिता काल कवलित हो गये । बच्चे का लालन-पालन दूसरे परिवार वालों ने किया । सेठ की बड़ी हवेली थी, पर बालक को पता नहीं था कि वह उसकी हेवली थी । परिवार वाले भी उस हवेली की देखरेख नहीं कर रहे थे । न कभी उस हवेली का झाड़ू-बुहारा ही कराते थे । आज भी ऐसी ही स्थिति हैं जो रावले हैं, कौन उन बड़े मकानों की झाड़ू बुहार करें ? बंद पड़े हैं । उस लड़के की शादी कर दी गई । बहू आ गई, वह भी उसी परिवार में रहने लगी । संयोग से बहनों में एक दिन बात चली । किसी ने ताना दिया- बड़ी आई बड़-बोली, घर का तो पता नहीं, दूसरों के घर में पल रही हो, दूसरों का खाती हो और बातें बना रही हो । उसने बात सुनी, उसका माथा ठनका । उसने पति से कहा- पतिदेव ! अपना घर कौनसा है ? पति ने कहा- मुझे तो पता नहीं है, मैं तो यहीं पला हूँ, बड़ा हुआ हूँ । पत्नी ने कहा- नहीं पतिदेव, बात दूसरी है । यह तो आपका पालित घर है, मूल घर एक और है । आप खोज करिये । उसने खोज की तो मालूम पड़ा कि वह अमुक हवेली उसकी ही है । पत्नी ने कहा- अब वहीं रहेंगे । पति ने समझाया, वह बंद पड़ी है, गिरने की स्थिति में आ गई है । पत्नी ने जिद की, नहीं कुछ भी हो, वहीं रहना हैं । यहाँ मेरा मन नहीं लगता । पति ने पूछा- यहाँ क्या दिक्कत है, किसी ने टोंका क्या ? पत्नी ने कहा- नहीं, किसी ने कुछ नहीं कहा किन्तु अपना घर अपना होता है । जरा आप लोग भी सोचिये- क्या धर्मशाला में आप ज्यादा दिन रह पायेंगे ? होटल में कितने दिन मन लगेगा ? कितनी थिरता रहेगी ? अपना घर तो अपना ही होता

है । मेहमान तो मेहमान ही है । हमें तो मेहमान बना दिया । यदि घर का समझते तो यह जरूरी थोड़े ही था कि घुमाकर लाते । कितना भी स्वागत करें, मेहमान तो फिर भी मेहमान ही होता है । अस्तु, उस बहिन ने कहा- अपने घर चलना है, यहाँ मन नहीं लगता । जिनके घर में वे दोनों रह रहे थे, उनसे अनुमति माँगी । उन्होंने पूछा- क्यों क्या हुआ । उत्तर मिला- नहीं, कुछ नहीं, उसका मन नहीं लगता है । वे अपने घर पहुँचे, घर की सफाई की । एक दीवार जीर्ण हो रही थी, उन्हें लगा यह खतरा बीच में क्यों रहे, उसे गिरा दें । उसे गिराया गया तो वहाँ से धन के कलश निकले । उससे वापस हवेली आबाद हो गई । अब कोई बोलने वाला नहीं था कि बड़ी बड़बोली बनती हो, घर का तो पता नहीं ।

वैसी ही स्थिति सिद्ध भगवान् की है, जो पहले कभी पराये घर में, कभी होटल में, कभी धर्मशाला में, कभी किसी घर में तो कभी किसी गाँव में घूमत रहे थे । सोचिये- आपका कोई गाँव है क्या ? गाँव कणी को है ? कल तक आप कह रहे थे- बापजी म्हारे बम्बोरा चालो । थारों है कांई बम्बोरा ? पहले कह रहे थे कि है, अब कह रहे हैं- नहीं । थोड़ा गहराई से चिन्तन करते ही सत्य उद्‌घाटित हो गया और बात में परिवर्तन आ गया । हमें सोचना हैं- जिसे हम अपना कह रहे हैं, वह वस्तुतः अपना है क्या ? सोचें कि क्या शरीर है अपना ? नहीं है । हम सारी बातें जानते हैं । यदि यह भेद-ज्ञान हो गया कि मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है, मेरा स्वभाव पुद्‌गल नहीं है । यदि हकीकत में यह बोध हो जाय, केवल किताबों के पढ़ने से नहीं तो समझ लीजिये कि यथार्थ में बोध हो गया । तब व्यक्ति अपने घर जाने की तैयारी करेगा । एक संत कवि ने इस स्थिति को लक्ष्य कर लिखा है-

साधो, कबहुँ न निज घर आयो ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, जग में बहुत हंसायो ।।

ऐसा ही सिद्ध भगवान् को ज्ञान हुआ था । अब तक मैं दूसरों पर

रहा, दूसरे धन की टोह लेता रहा। नमिराजर्षि की बोध हुआ। शकेन्द्र ने ब्राह्मण का रूप बना कर परीक्षा ली। राजन् ! ये क्या किया ? अभी तो नये-नये महल-भवन बनवाइये।

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाण गिहाणि य।
बालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ।।

(उत्तराध्ययन सूत्र- ६/२४)

हे क्षत्रिय ! पहले आप प्रासाद, वर्धमान गृह और बालाग्रपोतिकाएँ बनवाकर तदनन्तर जाना। शकेन्द्र की बात सुनकर नमिराजर्षि ने कहा-

संसयं खुलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ।।

उनका अभिप्राय यह था कि जिसे संशय होगा, वह बीच में घर बनायेगा, तम्बू तानकर रात बितायेगा पर जिसे विश्वास है- मैं पहुँच जाऊँगा, वह मकान नहीं बनायेगा। नमिराजर्षि को संशय नहीं था, वे गंतव्य पर पहुँचे। सिद्ध भगवान् ने देखा- अब तक बहुत मकान बनाये। भेद की दीवारें बहुत खड़ी कर दी। ऐसा करते-करते हमने अपने स्वरूप को भुलाया है, अब इन सब से हट कर हमें अपना स्वरूप प्रकट करना है। अपने घर को प्राप्त करना है और उसी के अनुरूप प्रवृत्ति करके उन्होंने सिद्ध स्वरूप व्यक्त कर लिया, पर हम अब भी वे ही कार्य कर रहे हैं, जिससे अपने घर की सुध ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में सिद्ध भगवान् से हमारी दूरी बढ़ नहीं जायेगी ? फिर मुँह से कहते रहें- "तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ" इससे क्या फर्क पड़ेगा ? भेद आया क्यों ? मन की दीवारों से। जब मन की दीवारें ढहेंगी, दूरी स्वतः ही मिट जायेगी। किससे क्या लेना-देना है ? ये सारे ठाठ-बाट धरे रह जायेंगे, कोई चीज साथ नहीं जायेगी-

'सगला ठाठ अठे रह जासी...।'

क्या जायेगा साथ में ? फूटी हांड़ी जणी में कांई डाले छाणा । जिस परिवार के लिये कितना किया, जाते-जाते वे साथ क्या भेजेंगे ? अतः ध्यान दीजिये जो शुभ कार्य या अशुभ कार्य करोगे वे ही साथ में आयेंगे, बाकी सब यहीं धरा रह जायेगा ।

सिद्धों से रही दूरी तय करनी है तो मन से, वचन से, काया से उस ओर गतिमान हो जाना चाहिये । बहुत समय जिनसे लगाव रहा, उनसे जुदाई अब सह्य नहीं । आपकी भावना उनसे अभिन्नता की बननी चाहिये । आप के मन में ये भाव बनें, आप वहाँ हैं तो मेरा घर भी वहीं है, मैं पीछे रहूँ, यह नहीं हो सकता । मैं भी आने की तैयारी कर रहा हूँ । ऐसा संकल्प बनते ही मन का सारा मैल दूर हो जायेगा, फिर कोई दूरी नहीं रहेगी । हमारा मन पारदर्शी है । जैसे काँच के भीतर शो केस में रहे हुए आभूषण बाहर से ही दिख जाते हैं, वैसे ही हमारा मन है । यदि सिद्ध स्वरूप को देखना चाहें तो पारदर्शी मन से अनुभव कर सकते हैं, किन्तु यदि काँच पर कागज चिपका दिया या कपड़ा डाल दिया या उस पर मैल आ गया तो कुछ जान नहीं पायेंगे, वैसे ही मन पर यदि परत या पर्दे आ गये तो पीछे का कुछ दिखेगा नहीं । उन्हें हटाते चलें जाओ, सारी अवस्थाओं का ज्ञान हो जायेगा । यह दूरी कैसे दूर हो ? उस विधि का अन्वेषण, खोज, संधान करें । जिन कारणों से दूरी है, वे दूर हो जायेंगे तो फिर सिद्ध भगवान् से संबंध जुड़ जायेगा और जहाँ सिद्ध भगवान् विराजित हैं, हम भी वहाँ पहुँच जायेंगे ।

दिनांक : ६.१.१९९७, बम्बोरा

१५. सत्य की अप्रमत्त साधिका
महासती श्री कंकुजी म.सा.

ब्यावर विराजित स्थविर पद विभूषिता महासती श्री कंकुजी म.सा. का पिछले ३-४ दिनों से संथारे का प्रसंग चल रहा था। भीण्डर से विहार करते समय समाचार मिले थे कि महासतीजी ने संथारा ग्रहण कर लिया है। कुंथुवास में भी दो दिन रूकने का प्रसंग रहा। ब्यावर से कोई समाचार मिले नहीं थे। सोचा संथारा प्रवर्धमान होगा, कल भी यही भावना बनी थी। अभी ऐसी जानकारी मिली है कि संथारा सीझ गया। महासतीजी ने वर्षों पूर्व संयम स्वीकार किया था। यद्यपि संसार पक्ष से वे देवगढ़ की थीं किन्तु संयमी जीवन के पश्चात् संतों का क्षेत्र से लगाव नहीं रह जाता। उनके लिये सत्य ही सर्वोपरि होता है।

सत्य को जान लो, देख लो। पर ऐसा कैसे करें ? सत्य हम से ओझल है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो हम स्वयं सत्य रूप हैं। बात अटपटी लगेगी पर यह सत्य है कि सत्य हमसे ओझल है। जबकि हम स्वयं सत्य रूप हैं किन्तु सत्य रूप को जान नहीं पा रहे है। यह वैसी ही बात है- "ज्यों आँखिन सब देखियत, आँखि न देखी जाहि।" साधना पथ पर जो भी साधक बढ़ता है, उसे सबसे पहले सत्य का दर्शन करना होता है, नहीं तो वह आगे बढ़ नहीं सकता। कैसे बढ़ पायेगा ? अंधकार में ठोकर ही खायेगा। जब तक प्रकाश नहीं मिलेगा, तब तक आगे का मार्ग दिखेगा नहीं तो बढ़ेगा कैसे ? इसलिये प्रभु कहते हैं- साधना में बढ़ना है तो पहले सत्य को जानो। संत जीवन स्वीकार करने की बात तो बाद की है, यदि पहले सत्य को जाना नहीं तो साधु-जीवन की भूमिका तक का निर्वाह नहीं कर

पाओगे । सत्य को जाने बिना साधु-जीवन तो क्या श्रावक-जीवन की भूमिका का भी निर्वाह नहीं होगा ।

सत्य क्या है ? सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है- 'तं सच्चं खु भगवं', सत्य भगवान् है । सत्य को भगवान् रूप माने तो क्या सत्य की कोई आकृति बता सकते हैं । जब हम कहते हैं- भगवान् महावीर, तब हमारे हृदय में और हमारी आँखों में एक छवि होती है, जिसे हम भगवान् मानते हैं । क्या ऐसे ही कोई छवि सत्य नाम के भगवान् की है, जिन्हें भगवान् मानें ? कैसे मानें ? भगवान् व्यक्ति को मानकर चलें तो सत्य अलग हो जायेगा, सारे सिद्ध भगवान् भी अलग हो जायेंगे, फिर किस रूप में सत्य को लिया गया है ? सत्य को भगवान् कैसे कहा गया है ? यदि बात को हम शव्दों के आधार पर लें तो समस्या का समाधान नहीं होगा । इस कथन को भावना अथवा परिणाम के आधार पर लें । सत्य भगवान् इस रूप में हैं कि जिन्होंने सत्य को प्राप्त कर लिया है या जो सत्य को उपलब्ध कर चुके हैं, वे भगवान् हो गये हैं । सत्य को उपलब्ध करने का मतलब है- आत्मा का जो शाश्वत धर्म है अथवा जो स्वभाव है, उसे उपलब्ध कर लेना । यदि पूर्ण शुद्ध आत्मा के स्वभाव में कोई उपस्थित हो चुका हैं, जिसकी उपस्थिति हो गई है, वह भगवान् है । जो सिद्ध क्षेत्र में गये हैं, उन्हें तो भगवान् कहा ही है, जो अरिहन्त है, उन्हें भी भगवान् कहा है । आगम में निर्ग्रन्थ मुनि अणगार, जिन्हें साधु कहते हैं, उनके लिये भी भगवान् शव्द का प्रयोग हुआ है । गणधर गौतम स्वामी के लिये भी भगवान् शव्द का प्रसंग बना था, जवकि उस समय उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त नहीं किया था । अधिक तो क्या कहें, गृहस्थ अवस्था के लिये भी भगवान् का प्रयोग किया गया है । इस स्थिति पर किंचित् विस्तार से विचार अपेक्षित है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के २१ वें अध्ययन में समुद्रपाल नामक युवक को भगवं कहा गया है । वह युवक अपने गवाक्ष (खिड़की) से नगर को देख रहा था । उसने देखा कि एक चोर को, जिसे मृत्यु दण्ड दिया गया था, नगर

में घुमाते हुए ले जाया जा रहा था। उसने चोर को देखा तो विचार किया कि दुष्कर्मों का कितना बुरा नतीजा होता है, उनका कितना भारी दण्ड दिया जाता है, परन्तु व्यक्ति पुनः उन व्यसनों में पड़ता है और दंडित होता है। इन्ही भावों से उसे संवेग प्राप्त हुआ। संवेग होते ही तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही सत्य का दर्शन हो जाता है। उस अवस्था में विचारों और आचार में पूरा का पूरा परिवर्तन हो जाता है। अतः शास्त्रकारों ने ऐसी परिवर्तित मानसिकता वाले व्यक्ति को भगवं शब्द से संबोधित किया है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सत्य-द्रष्टा बनता है, उसका जीवन आमूल-चूल परिवर्तित हो जाता है। साधना की भूमिका पर जब हम आरोहित होते हैं, परन्तु यदि तब भी सत्य का दर्शन नहीं हुआ तो साधना फलवती नहीं होगी।

महासती श्री कंकुकंवरजी ने सत्य के दर्शन कर लिये थे। उन्होंने संसार की असारता को जान लिया था। व्यक्ति इस संसार की असारता का अनुभव एक बार, दो बार नहीं, अनेक बार करता है। किन्तु थोड़ी अनुभूति कर, वह दूसरे प्रकार के चिन्तन में लग जाता है। वह यदि निरन्तर संसार की असारता का चिन्तन करता रहे तो फिर उसका मन संसार में लगेगा ही नहीं। उसे लगेगा कि यह सारी रौनक भ्रम पैदा करने वाली है, ये सब भ्रम-जाल है। यथार्थ कुछ और ही है। संसार की असारता की बात तब स्वतः ही समझ में आ जाती है, जब देखते हैं कि थोड़ी देर पहले जहाँ खुशियाँ मनाई जा रही थीं, वहीं थोड़ी देर वाद विषाद छा जाता है। जहाँ थोड़ी देर पहले शहनाई बज रही थी, वहीं थोड़ी देर में मातम छा जाता है। थोड़ी देर पहले का रंग-राग, मातम में वदल जाता है। ऐसे अनेक प्रसंग बनते हैं, बनें है।

एक करोड़पति सेठ था। उसके कोई संतान नहीं थी। संपत्ति भरपूर हो तो भी एक टीस होती है, यदि सम्पत्ति का कोई वारिस न हो, यह तो वही बात हुई कि चने हैं पर चबाने वाला नहीं। परन्तु यह चिन्तन भी

सम्यक् या उपयुक्त नहीं। इसका मतलब है कि व्यक्ति अपने-पराये में भेद करता है। चवाने वालों की कमी नहीं पर जिस रूप में वह कमी मान रहा है, उस रूप में यथार्थ में कमी है। वह मानता है- मेरे घर में जन्म लेने वाली सन्तान ही चबाये। यदि वसुधैव कुटुम्बकम् के भाव लेकर चलें तो कमी है क्या ? नहीं है। यही तो बात है। बात-बात में अंतर आ जाता है। वह सेठ सोचता था कि खाने वाला नहीं है, क्योंकि वह खिलाने की विधि नहीं जानता था। यदि वह पास-पड़ोस को अपना मानता तो दुःख नहीं होता। दुःख सीमित दायरे में होता है। दुकान में बैठा था पर टीस थी। विचारों में उलझा था। जब ग्राहक होते तब तो भूल जाता पर जब ऐसे ही बैठा होता तो बात ध्यान में आ जाती। चेहरा खिन्न हो जाता। संयोग से एक सिद्ध पुरुष उधर से गुजरे। सेठ की दयनीय मुखमुद्रा को देखकर कहा- क्या बात है, सेठ रतन ! खिन्न क्यों हो ? उत्तर मिला- क्या वताऊँ अपनी दशा और अपनी पीड़ा मैं ही जानता हूँ। कहावत है न-

'जाके पैर न फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई।'

जिनके घर में हँसी-खुशी के खेल हो रहे हो, घुंघरूं छमछम बज रहे हों, वच्चों की किलकारियाँ गूँज रही हों, वे मेरी पीड़ा कैसे जान सकते हैं। सिद्ध पुरुष ने पूछा- वात क्या है ? उत्तर मिला- मेरे संतान नहीं है। सिद्ध पुरुष ने ध्यान लगा कर देखा, फिर कहा- सेठ तुम्हारे संतान होगी। सेठ खुश हो गया। आगे की घटना संक्षेप में कह रहा हूँ- संतान हो गई, उसे पढ़ाया-लिखाया। फिर सोचते हैं- शादी करनी है। पर यह कभी नहीं सोचते हैं कि दीक्षा दिलानी है। माया में फँसा व्यक्ति हर किसी को माया में ही फंसाना चाहता हैं। हम भी फँसे हैं तो दूसरा क्यों ऊपर उठे ? यदि वह उठना चाहे तो कहेंगे- कहाँ जा रहा है, तूँ भी फँस। स्वयं अंधकार में हैं तो दूसरा प्रकाश की किरण प्राप्त कर ले, ऐसा वह सहन नहीं कर पायेगा। प्रकाश का मतलव है- सत्य का दर्शन। यदि किसी ने प्रकाश पा लिया तो उसे वापस अंधकार में मत धकेलो।

महासतीजी ने संसार को असार माना था, माना ही नहीं इस सत्य को जाना भी था। मान लो, गणित में कल्पना के आधार पर हल घटित होता है, परन्तु मानना अलग है, जानना अलग है। जानने में सत्य का दर्शन छिपा है। यथार्थ में जिसने संसार को असार जान लिया, वह क्यों किसी को संसार में रोकना चाहेगा ? पर ऐसे बिरले ही माता-पिता होते हैं, जो कहें कि कीचड़ में क्या पड़ा है। उठना चाहे तो स्वयं को उठा ले। महारानी मदालसा ने अपने पुत्रों को झूले में शिक्षा दी-

सिद्धोसि, बुद्धोसि, निरंजनोसि, संसार स्वप्न माया परिवर्जितोसि ।
संसार स्वप्न, तज मोह निद्रा, मदालसा इत्युवाची पुत्रं ।।

हे पुत्र ! तुम्हारी माता संबोधित कर कह रही है- यह संसार स्वप्न है, तज मोह निद्रा। कोई स्वप्न में देखता है कि वह बहुत बड़ा राजा वन गया, किन्तु सुबह देखता है कि टूटी खाट पर पड़ा है। रात भर खूव मौज-मारी थी, ऐशो-आराम में रहा था, सभी पर हुकूमत चला रहा था, सुबह कुछ नहीं। यह मोह की नींद है। प्रत्येक व्यक्ति कहता है- यह मेरा परिवार है, यह मेरा घर है, यह मोह की नींद है। यह न उड़े, तव तक व्यक्ति साधना में आगे बढ़ नहीं सकता।

"सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।"

इसमें सबसे पहले कहा- सम्यक् दर्शन। सम्यक् अर्थात् सही, सत्य का दर्शन। जब सत्य-दर्शन होगा, तभी ज्ञान की प्राप्ति होगी, तभी चरण आचरण की दिशा में आगे वढ़ पायेंगे। सत्य दर्शन- जिसे हम श्रद्धान, समकित कहते हैं। सम्यक्त्व एक तो हम गुरु के माध्यम से ग्रहण करते हैं। पर वहाँ भी यदि देव, गुरु, धर्म पर अविचल श्रद्धा न हो तो समझो हमने केवल शव्द पकड़े हैं, गहरे में पैठे नहीं हैं। श्रद्धान गहराई में हो, यह आवश्यक है। देव कौन ? अरिहन्त और सिद्ध, निर्ग्रन्थ २७ गुणों से युक्त, कनक-कांता के त्यागी गुरु एवं धर्म जो आत्मा के स्वाभाव में लीन करे। यदि वह विभाव की ओर ले जाने वाला हो तो वह धर्म नहीं हो

सकता। जो आत्मा के सत्य का बोध कराये, वही धर्म है। उसी की प्राप्ति के लिये व्यक्ति कदम बढ़ाये, उसे पूर्ण रूप से प्राप्त करने का प्रयत्न करे। जब वह पूर्ण प्राप्त होगा, तब वह स्वयं अरिहन्त, सिद्ध देव रूप बन जायेगा। इसलिये कहा जाता है- निश्चय में आत्मा ही देव, गुरु और धर्म हैं। पर कब ? अभी नहीं हैं। जब सत्य का पूर्ण रूप प्राप्त होगा, तब हमारी आत्मा ही देव, गुरु, धर्म रूप होगी, वही आत्मा मार्गदर्शन देने वाली होगी। लेकिन जो आत्मा स्वयं अंधकार में भटक रही है, उसे देव, गुरु, धर्म नहीं कहा गया है। कालान्तर में जब वह अज्ञान एवं मोह की नींद छोड़ देगी, सत्य में उपस्थित हो जायेगी, तब वह देव, गुरु, धर्म होगी।

देव, गुरु, धर्म प्रेरणा देने वाले होते हैं। अंधकार को हटाकर प्रकाश का प्रकटीकरण कराने वाले होते हैं। प्रकाश प्रकट न हो, तब तक गति नहीं होगी। इसके लिये सत्य का दर्शन करना होगा। सत्य का दर्शन हो जाय, तब ही व्यक्ति अपने में अडिग रह पाता है। हम आँखों से देखते हैं, किन्तु यदि आँखों पर चश्मा लगा है तो वह दृष्टि को प्रभावित करेगा। चश्मा भी दो प्रकार का होता है। एक तो नम्बर का चश्मा होता है, जिससे साफ दिखाई देता है। पर एक चश्मा धूप-आँधी से बचने के लिये लगाया जाता है। वह चश्मा रंगीन होता है। उस रंग से, धूप से बचाव तो होता है पर उससे बाहर का सब कुछ रंगीन नजर आता है। इसे एक दृष्टांत से समझें।

एक तथाकथित महात्मा नाश्ता करने बैठे। उनका नियम था कि जितना नाश्ता करना है, उतना कर लिया जाय उसके बाद लोटा या गिलास जो भी हो, उसमें दूध लिया जाय। नाश्ता करने के बाद उन्होंने दूध की तरफ देखा, शिष्य से कहने लगे क्या बात है- आजकल दूध की मात्रा कम क्यों होती जा रही है ? दूध पूरा क्यों नहीं है। शिष्य ने कहा- गुरुदेव ! गाय दूध कम दे रही है। पूछा- क्यों कम दे रही है ? उत्तर मिला- अकाल पड़ जाने से हरी घास नहीं मिलती है, सूखी घास खाती है तो इतना ही

दूध देती है। गुरु ने कहा- उसमें क्या सोचना ? उसका तो उपाय है। पास में सेठ बैठे थे, सोचने लगे- गुरुजी क्या उपाय बतायेंगे ? महात्मा ने शिष्य से कहा- यह लो चार आने के पैसे, बाजार में जाओ और जैसे बच्चों के लगाने के चश्में मिलते हैं, वैसा आगे हरा कागज लगा चश्मा ले आओ। शिष्य ने सोचा- पता नहीं गुरुजी क्या करेंगे। वह हरा कागज लगा चश्मा लेकर आ गया। गुरु ने कहा- इसे गाय की आँखों पर लगा दो और चरने के लिये घास डाल दो। उसे लगाने के बाद सचमुच गाय का दूध बढ़ने लगा। आप पूछेंगे कैसे हुआ यह चमत्कार ? मनोवैज्ञानिक कहते हैं- व्यक्ति की मनोवृत्ति बदलनी है तो व्यक्ति के भावों में परिवर्तन कर दो। परिवर्तन आ जायेगा। गाय ने सोचा- वह हरी घास चर रही है और दूध पूरा-पूरा उतरने लगा। शिष्य ने देखा- चमत्कार हो गया। अस्तु, यह तो आख्यान है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो उन्होंने एक प्रयोग किया है। व्यक्ति की चित्तवृत्ति को बदलने के लिये, उन्होंने एक उपकरण तैयार किया है, जिससे चित्तवृत्ति में बदलाव सकता है। उस यंत्र को कान में अमुक जगह लगा दिया गया तो यह परिणाम निकला कि जिन ७० व्यक्तियों पर प्रयोग किया गया था, उनमें ५५ व्यक्ति शराब, बीड़ी जैसे नशे में धुत रहने वाले थे। उस यंत्र के प्रयोग के बाद उनके भाव भी नहीं बने कि वे शराब, बीड़ी आदि पीयें। कभी-कभी जब व्रत-प्रत्याख्यान की बात कही जाती है, तब व्यक्ति जब तक भीतर से संकल्पशील नहीं, समझ न लें, तब तक ऊपर से तो त्याग हो जायेगा पर विचार बने रहेंगे कि थोड़ी ले लूँ, एक-दो बीड़ी पी लूँ। प्रत्याख्यान ले लिया, महीने भर पाला भी पर विचार में यदि परिवर्तन नहीं हुआ तो कहीं किसी को व्यसनग्रस्त देखा तो पीने की इच्छा हो जायेगी। बीड़ी की बात छोड़िये, कभी पुस्तक पढ़ने या संतों के कहने से सौगन्ध ले ली कि आम नहीं चूसना, किन्तु मन से नहीं छोड़ा। वह यदि आम देखेगा तो उसका मन हो जायेगा। ऊपर से नहीं चूसा, पर मन ही मन आम खा लिया, छोड़ नहीं, कल्पना कर ली। ऐसे चूसता तो

ऐसा जायका आता । ऐसे अनुभव मन के साथ घट जाते हैं । भावों में जब तक परिवर्तन नहीं आता, तब तक व्यक्ति आदतों से बच नहीं सकता । आदतों के परिवर्तन हेतु विचारों में परिवर्तन करना होगा ।

प्रभु महावीर कहते हैं- भीतर से यदि परिवर्तन नहीं किया तो समझ लीजिये कि आपने भी चश्मा चढ़ा रखा है । चश्में से परिवर्तन कर लिया तो भीतर आनंद नहीं आयेगा । इसलिये कहा है- सत्य के दर्शन कर लो, फिर मार्ग मिल जायेगा । हाथ में टॉर्च है तो अमावस्या की रात्रि में यदि बादल भी छाये हों तो भी मार्ग मिल जायेगा । वैसे ही सत्य की टॉर्च से धर्म का मार्ग मिलेगा ही, उसमें कोई रूकावट नहीं आयेगी । परन्तु यदि प्रकाश प्राप्त नहीं है, लक्ष्य ज्ञात नहीं है और अंधेरे में तीर छोड़ दिया तो कहीं पहुँचेगा ही, क्योंकि रोज की आदत पड़ी है । जिसे आँखों से दिखाई नहीं देता, पर रोज की आदत है तो वह आँखों की रोशनी न होने पर भी दीवार के सहारे नोहरे में पहुँच जायेगा, क्योंकि आदत बनी हुई है । वैसे ही हमारी आदत बनी हुई है । हमने सत्य के दर्शन किये या नहीं पर आदत से मान रहे हैं कि हम धर्म कर रहे हैं । किन्तु आदत का परिवर्तन न करें तो उस अंधे की भाँति होंगे, जो रोज की आदत के अनुसार काम करता है । गाय आदि पशु भी यदि अपने रोज के आने-जाने के मार्ग पर हैं तो जहाँ से उतरना-चढ़ना है, वहीं चलेंगे । नये सिरे से खोज नहीं करेंगे । यदि हम भी आदत में चलते रहे जन्म से ही 'तिक्खुत्तो आयाणं पायाणं,' बोलने की आदत पड़ गई तो वही करते रहेंगे, भले ही वह अशुद्ध हो, परन्तु सोचेंगे कि- मैंने धर्म कर लिया । यह धर्म नहीं हैं । धर्म की कसौटी प्रभु के शब्दों में यह है कि तुम सत्य के दर्शन करो । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है-

'संवेगेणं भंते जीवे किं जणयइ ?'

भगवान् ने कहा है- अनुत्तर धर्म, श्रद्धा से प्राप्त होता है, जब स्व-भाव के प्रति श्रद्धा हो गई तो स्वभाव ही सत्य है । उसके प्रति

आस्था-निष्ठा पैदा हो गई तो फिर कोई हिला नहीं सकेगा । आस्था नहीं है केवल औपचारिकता पर चल रहे हैं तो यदि कभी तेज हवा का झौंका आ गया तो आस्था डगमगा जायेगी । जैसे ध्वजा-पताका हिलने लगती है, वैसे ही श्रद्धा डांवाडोल हो जायेगी । हमें सत्य का ज्ञान नहीं है तो सच्ची श्रद्धा नहीं बनेगी, भले ही वह प्रवाह में चलती दीख रही हो पर कभी रुकावट आ गई तो अराजकता पूर्ण स्थिति पैदा हो जायेगी, जैसे अंधे ने चलने की आदत तो डाल ली, मगर किसी ने यदि बीच में दीवार खड़ी कर दी तो वह दीवार से टकरायेगा, क्योंकि चलने की आदत तो पड़ी हुई थी, पर उसके पीछे समझ नहीं थी । अतः वह सोचेगा कि मैं आज गलत तरफ भटक गया । इसीलिये आचारांग सूत्र में कहा है- 'सच्चं समभि जाणहि' सत्य को जानों और उत्तराध्ययन में कहा गया है कि- संवेग से अनुत्तर श्रद्धा प्राप्त होगी, उससे दृष्टि में परिवर्तन हो जायेगा ।

महासती श्री कंकुजी म.सा. को सत्य का बोध हो गया था । गुरु भगवंतों से हुआ हो या अन्य किसी प्रकार से हुआ हो, परन्तु उन्होंने असारता को जान लिया था । बोध अनेक प्रकार से हो सकता है, नमि राजर्षि ने जब वे दाह ज्वर से पीड़ित थे और महारानियाँ चन्दन घिस रही थीं, तब चूड़ियों की खनखनाहट सुनी । रानियों ने चूडियाँ पहन रखी थीं । व्यक्ति जब वेदना में होता है, तब उसे मधुर आवाज नहीं सुहाती । वह शांत वातावरण चाहता है । आवाज होती है तो उसमें चिड़चिड़ापन आ जाता है । वह चाहता है- वहाँ शोरगुल न हो । नमि राजर्षि को भी वह आवाज सहन नहीं हुई । मंत्री से आवाज बंद करने को कहा तो मंत्री ने महारानियों से कहा । महारानियों ने सुहाग के चिन्ह रूप एक-एक चूड़ी रखी, शेष खोल दीं, खनखनाहट बंद हो गई । चंदन के लेप से, राजा को नींद आ गई । आँख खुली, आवाज बंद थी, पूछा- क्या चंदन घिसना वन्द कर दिया । उत्तर मिला- राजन् ! वन्द नहीं किया पर रानियों ने सौभाग्यसूचक एक-एक चूड़ी रख कर वाकी निकाल दी है, इसलिये खनखनाहट बंद हो गई है । नमि राजर्षि का चिन्तन चला, जहाँ अनेक हैं

वहीं खड़बड़ाहट है । मारवाड़ में कहते हैं- जहाँ भंडेर हैं, वहीं खड़खड़ाहट है । अकेला बर्तन है तो किससे खड़खड़ायेगा ? एक में खड़खड़ाहट नहीं होगी ।

"एगो मे सासओ अप्पा, णाण दंसण संजुत्तो ।"

एक आत्मा को जान लें, सत्य स्वरूप को जान लें तो विकारों की खनखनाहट समाप्त हो जायेगी । खनखनाहट विकारों की है । पाँच इन्द्रियों के विषयों को जब हम ग्रहण करते हैं, तब वे अनेक बनते हैं, इस कारण खड़खड़ाहट पैदा होती है । परन्तु इन पदार्थों में कौन सा पदार्थ शाश्वत है ? कोई नहीं, सिर्फ एक आत्मा शाश्वत है, उसे जान लें । यही बोध है, यंही सम्यक् दर्शन है, यही सत्य भगवान् है । यह सत्य को जानना है, सत्य नित्य है, आत्मा नित्य है, यही बोध सम्यक्त्व है । साधना पथ पर चलना है तो सत्य को जानना होगा ।

महासती श्री कंकुकंवरजी म.सा. ने बोध करके जाना- यह संसार असार है, कोई भी पदार्थ शाश्वत नहीं है, प्रतिक्षण व्यक्ति यहाँ से खिसक रहे हैं । खिसकना भी कई प्रकार से होता है । एक खिसकना तो आयु पूर्ण होने से होता है । दूसरी स्थिति में व्यक्ति पेटी भरने के लिये भी खिसकता है । पेट तो बम्बोरा में भी भरा जा सकता था पर व्यक्ति खिसकता है । सोचता है कि कहीं अन्य जगह का अन्न-जल भाग्य में लिखा है । लेकिन वह असारता के सत्य को नहीं जानता । असारता का सत्य यह है कि यहाँ प्रतिक्षण-प्रतिपल खिसकना हो रहा है, स्थायी कुछ भी नहीं है । जन्मे तब क्या रौनक थी । जवानी में रौनक में तेजस्विता भी आ गई । बुढ़ापे में आये तो शाल के साथ कम्बल भी ओढ़ ली, फिर भी ठंड लगती है । जन्में जब बालक थे तो खुशियाँ मनाई गईं, किन्तु ज्यों-ज्यों पैसे की पकड़ के भाव बने, चेहरे की रौनक कम होती गई, चेहरे पर तनाव आने लगा । बालक के चेहरे पर रौनक होती है, क्योंकि वह माया-मोह के चक्कर में नहीं आया होता है, चक्कर में आते ही वह सारी की सारी सौम्यता चली जाती है ।

वालक चाहे किसी का भी हो, वह प्रत्येक के मन में उल्लास पैदा करता है। उसके चेहरे पर सहजता और सरलता होती है। क्योंकि वह माया के चक्कर में उलझा नहीं होता। नहीं उलझता है, तभी तक वह सुहावना लगता है, उलझा नहीं कि लोग उससे दूर हटना चाहते हैं, क्योंकि उसके चेहरे पर कुटिलता दिखाई देने लगती है। इन अवस्थाओं को और सत्य को जान लेना आवश्यक है। मेघकुमार ने एक प्रवचन सुना, सत्य का वोध हुआ-

'अलित्तेणं भंते लोए , पलित्तेणं भंते लोए...।'

भगवन् ! लोक जल रहा है, बचाइये, मैं संतप्त हूँ। लगी हुई है- आग। अनुभव होता है आपको भी ? नहीं, आपको तो यह ऐसी लग रही है- जैसे ठंडक में धूणी तापते हैं, उसे छोड़ने का मन ही नहीं होता। हम तो ठंड से इतने ठिठुर रहे हैं कि तापते ही रहें। दूर हटे कि ठंड लगती है पर जब ज्ञान हो जायेगा तव वहाँ कोई रहेगा नहीं। पर मेघकुमार भगवान् के पास पहुँचे, उन्होंने अनुभव किया कि संसार में आग लगी हुई है और उस आग में प्रत्येक व्यक्ति झुलस रहा है। पूछा गया- "अग्गी इइ के वुत्ता ?" अर्थात् अग्नि किसे कहा है ?

अग्नि है- कषाय। इसीके कारण व्यक्ति झुलस रहा है। पाँच इन्द्रियों के विषय में उलझता है तो कषाय का वेग बनने से उसमें तीव्रता आती है। एक तो आग जल रही है, उसमें घासलेट, ईंधन आदि डाल दें तो आग और भड़केगी। यही हालत संसारी व्यक्ति की है। लगातार ईंधन डालता रहता है, इसलिये आग वढ़ती रहती है। महासती श्री कंकुकंवरजी म.सा. ने सत्य को जाना, वोध मिला। गुरु भगवन्तों से निवेदन किया- इस असार संसार से मेरी आत्मा को निकालना है। विरले व्यक्ति ही उससे स्वयं को ऊपर उठा पाते हैं, क्योंकि इस कीचड़ में गिराने वाले वहुत होते हैं, इसमें से निकालने वाले विरले। स्थविर प्रमुख श्री ज्ञानमुनिजी म.सा. की माता ने कहा- मेरी कुक्षि से जन्मे, आगे

बढ़ो । स्वयं ने सौंपा, वैसी ही शिक्षा दी । जैसी माता मदालसा ने पुत्रों को दी थी । संसार स्वप्न है, यह समझ कर इससे प्रेरणा ली जाये तो असारता का बोध प्रत्येक व्यक्ति कर पायेगा और तभी हमारी साधना, आराधना रंग ला पायेगी । नहीं तो व्यक्ति को लगता है- इतने वर्षों से साधना कर रहा हूँ, पर मिला कुछ नहीं, वहीं पहली कक्षा में ही हूँ । आप शिविर लगाते हैं, बच्चे आते हैं, पिछले वर्ष प्रतिक्रमण सीखा, इस वर्ष फिर कहेंगे हमें प्रतिक्रमण सीखना है । आप पढ़े पर परिणाम क्या आया ? प्रतिवर्ष वही परिणाम ! जीवन आगे क्यों नहीं बढ़ा, सोचा कभी ? इसका मूल कारण है- हमने सत्य की ओर झाँका नहीं, उसे पहचाना नहीं और उसके दर्शन भी किये नहीं । इस स्थिति में आदत में परिवर्तन नहीं होगा । महात्मा ने चश्मा लगा दिया और गाय का दूध बढ़ गया, ऐसा हो सकता है, यह बात मनोवैज्ञानिक कहते हैं । यह तो हुई यंत्र से परिवर्तन की बात, किन्तु प्रभु महावीर कहते हैं-

'वरं में अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।'

दूसरे बाह्य अथवा भौतिक यंत्रों से परिवर्तन नहीं, बल्कि संयम और तप से परिवर्तन श्रेष्ठ है । जो व्यक्ति स्वयं संयमित नहीं होता, उसका स्वयं पर अधिकार भी नहीं होता । इसलिये यंत्र से परिवर्तन नहीं किन्तु अपने आप में परिवर्तन करें । बाहर के बंधन से परिवर्तन करना तो कायरता होगी । इसका मतलब तो यही हुआ कि स्वयं की क्षमता एवं संकल्पों में विश्वास नहीं । व्यक्ति स्वयं संयमित नहीं, इसलिये नसबंदी करवा लेता है । ऐसा जीवन क्या संयमित है ? इससे बड़ी नपुंसकता अथवा कायरता क्या हो सकती है ? संयम तप से आत्म दमन की शूरवीरता कितनों में हैं ? व्यक्ति सोचता है- महाराज ने तम्बाकू का त्याग करवा दिया तो मुँह में कुछ तो चाहिये, सौंफ ही रख लूँ । यह तो वैसी ही बात हुई कि श्लेष्म था निकाल दिया तो फिर सोचें नाक में दूसरी चीज रख लूँ । निकाल दिया तो निकाल दिया ।

व्यसन मुक्ति की बात प्रमुख है- मैंने इसका आह्वान भी किया है। मैं तो चाहता हूँ कि देश ही क्या पूरे विश्व में इस विचार का प्रचार हो पर नारे देना सरल है। पूज्य गुरुदेव फरमाते हैं- मयूर अपने पंखों को देखकर नृत्य करता है, हर्षित होता है पर जब पैरों पर नजर पड़ती है तो उदास हो जाता है। नारे देना सरल है। वह तो मयूर के नाचने जैसा है। वैसे तो आप कहते हैं- 'गुरुदेव आपके मंत्र को घर-घर में पहुँचायेंगे।' पर सोचें कि- अपने ही घर में पहुँचाया या नहीं ? कठिन है सिद्धान्त पर अमल। तुलसीदासजी ने रामचरित्र मानस में लिखा है-

पर उपदेस कुसल बहुतेरे ।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।।

यही बात दीक्षा के संबंध में हैं। दूसरे की दीक्षा में दलाली कर देंगे, किन्तु अपने घर में यदि कोई तैयार हो तो क्या करेंगे, यह भी आप जानते हैं। आप अनुभवी हैं। नारे तो लगाते हैं घर-घर में, किन्तु पहले अपने घर में नारा पहुँचाओ। अपने घर पहुँचा लिया, दीप जला लिया तो फिर जिसे आवश्यकता होगी, वह आकर अपना दीपक जला लेगा। यदि अपने घर में मोमबत्ती जला ली तो जिसे जरूरत होगी उसे मनाही नहीं हैं, वह स्वयं आकर जला लेगा- अपनी मोमबत्ती, स्पर्श ही तो कराना है। प्रभु महावीर ने कहा है- 'सच्चं समयि जाणहि।'

स्वयं का तो पता नहीं और सत्य को बाँटता फिरता है। लेकिन सोचें कि स्वयं को ही जो वस्तु प्राप्त नहीं, वह उसे बाँटेगा कहाँ से ? यदि अन्तर से कहते हो कि हम 'नाना' गुरु के भक्त हैं और उद्घोष करते हो कि उनकी शिक्षा घर-घर पहुँचायेंगे तो उनकी शिक्षा केवल दीवार पर या वैनर पर लिखकर नहीं, घर-घर व्यक्तिगत रूप में पहुँचायें। अपने विचारों को अमल में लाने की तैयारी होनी चाहिये, केवल उपर के दाँव-पेंच से काम नहीं होगा। यदि यह बात अच्छी लगती है तो व्यसन-मुक्ति की बात घर-घर में पहुँचायें। व्यक्ति तम्बाकू खाता है, इधर-उधर थूकता फिरता है,

बीड़ी-सिगरेट पीकर पर्यावरण दूषित करता है। भगवान् ने पर्यावरण सुरक्षा की बात कही है, पर इसे व्यसनी दूषित कर रहे हैं। आप जानते होंगे कि अन्य खेतों में तो बाड़ लगाई जाती है पर तम्बाकू के खेत में बाड़ नहीं लगाई जाती, क्योंकि कोई जानवर उसकी फसल नहीं खाता। जिसे मवेशी नहीं खायें, पशु-पक्षी नहीं खायें, उसे आप खायें अर्थात् आप उनसे भी गये-बीते हो गये।

यह मनुष्य का चोला सृष्टि में राजा जीवन कहलाता है। नरक, तिर्यंच को दुर्गति कहा है और देव गति से भी सुगति-सिद्धि नहीं मिल सकती। सिर्फ मनुष्य को ही मिल सकती है, इसलिये उसे सुगति कहा है। हम इसकी सुगति कर रहे हैं या दुर्गति, यह समझने की बात है। पुण्यवाणी के योग से मनुष्य बन गये पर भ्रम में मत रहना कि आगे के भवों में भी मनुष्य ही बनेंगे। यदि अनुचित काम करते रहे तो पशु योनि अथवा नरक योनि में जन्म लेकर डंडे खाने पड़ेंगे। नरक में यमदूत (परमाधामी देव) दुःख देंगे और नैरयिक हाय-हाय चिल्लाते रहेंगे। यमदूत कहेंगे- तूँ ने मनुष्य जीवन में धर्म नहीं किया, विषय-कषाय में लगा रहा। तुझे शराब अच्छी लगती थी तो ले पी और तांबा, लोहा, पिघलाकर बलपूर्वक मुँह में उंडेलेंगे। अतः जीवन की सार्थकता को समझें। दुगर्ति से बचें, इसके लिये बोध प्राप्त करें।

यदि आप गुरु की आज्ञा मानते हैं, गुरु के प्रति आपकी श्रद्धा है, समर्पणा है तो किन्तु-परन्तु की बात न करें। आपने गुरु का आश्रय लिया है और उनमें श्रद्धा है तो उनकी शरण लें, उनका अवलंबन न छोड़ें, निश्चित परिवर्तन आयेगा। श्रद्धा बलवती होती है, समर्पण है तो कोई कारण नहीं कि परिवर्तन न आये। परिवर्तन आता है, कोई न लाना चाहे, यह अलग बात है। मोमबत्ती में जलने की क्षमता है पर कोई जलाना नहीं चाहे तो क्या होगा ? जीवन में प्रकाश करना चाहो और गुरु के प्रति आस्था है तो जीवन का परिष्करण अवश्य होगा।

वंधुओं गुणानुवाद सभा के माध्यम से वातें मैं कह गया। महासतीजी ने संयम स्वीकार किया। अंतिम समय में संलेखणा संथारा करके पंडित मरण की आराधना की। सत्य की आराधना करनी है तो अविचल आस्था होनी चाहिये, मन चलायमान न हो, भले सूर्य पूरव से पश्चिम में उग जाये। अरणक श्रावक का जीवन आपने पढ़ा होगा। देव ने दो अंगुलियों पर जहाज उठा लिया कहा- "एक बार कह दे, जिन धर्म झूठा है, नहीं तो यह जहाज पटक दूंगा, सारा माल-किराना, सम्पत्ति बह जायेगी।" सोचा है- ऐसे में क्या करना चाहिये ? आप ट्रक लेकर जा रहे हैं और ऐसा प्रसंग आ जाय और कोई कहे- एक बार कह दो, मेरा धर्म झूठा है ? आप क्या करेंगे ? सोचेंगे सारा माला चला जायेगा। इस प्रकार परीक्षा होती है। जो खरा होगा, वही कुंदन वनेगा, शेष जो जलकर राख हो जाये, वह सोना नहीं हो सकता। परीक्षा में जो श्रद्धा अखंडित रहें, वही श्रद्धा कुन्दन वनती है। कामयाबी उसे ही मिलती है जो अटल हो, अरणक ने नहीं कहा। धर्म झूठा है, सोचा- जो होगा, वह हो जायेगा। वह भयभीत नहीं हुआ, क्योंकि वह सत्य को जान चुका था। हमारे जीवन में सत्य आ जायेगा तो हम झुकेंगे नहीं, अपने मत. पर दृढ़ रहेंगे। परन्तु यदि ऊपर का रंग है- जैसे दीवार पर पोता है तो भले ही खूब चमचमाहट दिख रही है, पर ज्यों ही पानी पड़ेगा वह दीवार पर धब्वा ला देगा, सारी रौनक फीकी पड़ जायेगी। किन्तु यदि ऑइल पेन्ट है तो कितना भी पानी गिरे, कोई खतरा नहीं। वैसे ही ऑइल पेन्ट की भाँति अविचल आस्था है तो वह जीवन में निखार लायेगी।

महासती श्री कंकुकंवरजी ने यही किया। उन्होंने श्रद्धा का सहारा लेकर सत्य को जाना। संसार की आग को देखकर संवेग प्राप्त किया। संयम स्वीकार किया। निरन्तर धर्म आराधना करती रहीं। पिछले कई वर्षो से दुर्वल शारीरिक अवस्था के कारण व्यावर में विराजित थीं। कोई साधु वन जाय, जवानी में खूब धर्म प्रचार करे, खूव आराधना कर लें, पर वुढ़ापे में यदि उसकी सेवा-व्यवस्था न हो तो वह निराश हो जाता है।

परिवार में माता-पिता-पुत्रों के लिये सब कुछ करते हैं, उसके पीछे चाह रहती है कि बुढ़ापे में वह सेवा करेगा। पर यदि वही ज्यादा से ज्यादा एक नौकर रख दें और कहे- "मैं क्या-क्या करूँ ? फेक्ट्री देखूँ, काम संभालूँ या आपके पास बैठा रहूँ !" तो कैसा लगेगा ? उसी तरह साधु-साध्वियों की स्थिति बने तो क्या वह उचित होगी ? पर जब साधु अवस्था में अलग-अलग शिष्य परंपरा होगी, तब जिसके शिष्य बन गए, उसके तो ठीक पर जिसके नहीं बनें, उसकी क्या दशा होगी ? गुरु भाई से कहेंगे, वह कहेगा- वह करेगा तो दूसरा कहेगा- वह करेगा। कोई अपने शिष्य देने को तैयार नहीं होगा। अलग-अलग शिष्य परंपरा होगी तो श्रावकों में वह भेद डालेगी। परिणाम स्वरूप समाज टूटेगा, भेद की दीवारें खड़ी होंगी और संयम जीवन धूमिल होगा। जहाँ संयम जीवन में तेरे-मेरे के भाव पनपेंगे, वहाँ आराधना आकाश-कुसुम हो जायेगी। जरा सोचें कि साधु बन गये तो फिर क्या चाहिये ? क्या धन चाहिये, परिवार चाहिये, बँटवारा चाहिये ? यदि ये सब चीजें चाहिये थीं तो परिवार में क्या कमी थी, फिर क्यों छोड़ा ? वह चाहिये तो परिवार में, संसार में मिल सकता है। समाज भले कद्र करे परन्तु पोशाक पहन लेने मात्र से कुछ नहीं होगा। जो ऐसी स्थिति में चलेगा, वह पहले अपनी आत्मा को काली करेगा। इन सब स्थितियों से बचना है तो सत्य को जानो। जो जान लेगा फिर वह आल-पंपाल में नहीं पड़ेगा। जीवन को सही दिशा में गति देगा। कोई व्यक्ति अपना जीवन धर्म की, शासन की सेवा में, प्रभावना में बिताये और यदि वृद्धावस्था में उसकी सेवा की व्यवस्था न हो तो यह चिन्तनीय स्थिति बन जाती है।

इसके लिये शासन में यह सुव्यवस्था शांत क्राँति के अग्रदूत स्व. श्री गणेशाचार्य ने दी। उन्होंने व्यवस्था दी कि जो पहले दीक्षित हुए हैं, उनकी सेवा में भी कोई कमी न रहे। प्रत्येक साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना से जीवन को भव्यता से आगे बढ़ाये। आचार्य श्री आत्मारामजी म.सा. के पास श्री प्रकाशमुनिजी २० वर्ष की वय में दीक्षित हुए, ५० वर्ष दीक्षा पाली। ७० वर्ष की वय में शारीरिक सेवा की

आवश्यकता हुई । तव उनके गुरु भाई कहते हैं- वे करेंगे, वे कहते हैं- वो करेंगे । कोई उनकी सेवा के लिये तैयार नहीं था । चिन्तनीय स्थिति वन गई । उनका चित्त विक्षिप्त सा हो गया । परिवार वालों को समाचार दिये । भाई आये और गाड़ी में बिठाकर घर ले गये । घर में भोजन के लिये वैटे, थाली-कटोरी देखी । ५० वर्ष जिन्होंने पात्रों में भोजन किया था, उन्हें बर्तन कैसे सुहाते । वे कहने लगे- मैं तो नहीं रह सकता । भाई ने कहा- मैं तो साधु बनने से रहा । घर में रहो तो सेवा कर दूँगा । उनका मन नहीं लगा । उनके भाई ने आचार्य श्री का नाम सुना था । आये, सारी वातें उनके सामने रखी । आचार्य श्री ने कहा- यदि विहार करें, मेरे साथ रहें तो मैं संभाल लूँगा । यदि नहीं तो मेरे गुरु भाई इन्द्रचंदजी म.सा. हैं, उनके पास वे रहें, उनमें यदि संयम के प्रति रुचि होगी तो सहयोग दिया जा सकता है । भगवान् संत सेवा करेंगे ! कालान्तर में उनकी रुचि देखी, उन्हें पूरा सहयोग दिया । वे आसन और पातरी तक उठाकर नहीं रख सकते थे । किन्तु जव सेवा होने लगी, तव उन्हें विश्वास हो गया । सोचा, मेरा जीवन निभ जायेगा । विक्षिप्तता भी दूर हो गई । स्वास्थ्य में सुधार आया । फिर तो लम्बी-लम्बी तपस्या करने लगे । ३-४ किलो मीटर गोचरी हेतु पधार जाते । इस प्रकार सेवा की सुव्यवस्था से साधक आर्त्तध्यान से वच जाता है ।

यदि शासन में सेवा की सुव्यवस्था हो तो व्यक्ति वृद्धावस्था में भी आराम से आराधना कर सकता है । युगद्रष्टा ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहर, युग की नब्ज को जानने वाले थे । यदि अलग-अलग शिष्य परंपरा वनी तो प्रत्येक शिष्य चाहेगा मेरे गुरु के चार चेले हैं, मैं भी अपने वनाऊँ । वे श्रावकों को तोड़ेगें, इस प्रकार संघ में दीवारें खड़ी होंगी और टूटन होगी । अतः उन्होंने एक आचार्य के नेतृत्व की योजना प्रस्तुत की ।

शांत क्राँति के अग्रदूत स्व. गणेशाचार्य ज्योतिर्धर युगद्रष्टा ने उस योजन का क्रियान्वयन किया, परिणाम स्वरूप महासती श्री कंकुजी म.सा.

वृद्धावस्था में अस्वस्थ चल रही थीं पर भाग्यवान सतियाँ व्यवस्था के अनुरूप सेवा में तत्पर रहती थीं ।

ब्यावर वाले आये, वह बता रहे थे- १०-१५ मिनट में दस्त, कपड़े खराब होते पर सतियों के चेहरे पर तनिक भी शिकन नहीं आती । प्रसन्नता से वे सेवा में तत्पर रहती थीं । इस प्रकार उन्होंने महासतीजी को आर्त्तध्यान से हटाकर रत्नत्रय की आराधना में सहयोग दिया । उनका वियोग अवश्य हुआ है । एक व्यक्ति साधु बनता है उसमें बहुत समय लगता है, पर आयुष्य पूर्ण होने पर उससे वियोग निश्चित है । वहाँ किसी का वश नहीं चलता । उस वियोग को तो झेलना ही पड़ता है पर यह संतोष एवं प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने संथारा ग्रहण करके पंडित मरण की आराधना की । वे जहाँ भी पहुँची हो, आगे सुलभ बोधि प्राप्त करें, प्रभु महावीर की साधना पद्धति से, आराधना कर जीवन को भव्य बनावें, यही हमारी कामना है ।

दिनांक : १०.१.१९९७, बम्बोरा

१६. संघ धर्म पालना की अतुलित महिमा

संभव देव ते सेवो सवे रे....।

प्रभु महावीर इस अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर थे, इसलिये उन्हें चरम तीर्थेश कहा जाता है। चरम का अर्थ अंतिम अथवा सबसे पीछे का है। इस दृष्टि से प्रभु महावीर को चरम तीर्थेश कहना उचित ही है, क्योंकि इस अवसर्पिणी काल में कोई और तीर्थंकर नहीं होंगे पर इसका अर्थ यह नहीं कि प्रभु महावीर के पश्चात् कभी कोई तीर्थंकर होंगे ही नहीं। उत्सर्पिणी काल में पुनः तीर्थंकर होंगे, तीर्थ की स्थापना होगी तथा साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका होंगे। प्रश्न यह है कि यदि उत्सर्पिणी काल में पुनः तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करेंगे तो क्या अभी जो तीर्थ चल रहे हैं, वे चार तीर्थ उस समय मौजूद नहीं रहेंगे ? बात यही है। प्रभु महावीर का शासन प्रभु के निर्वाण से लेकर इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा। तब तक चार तीर्थ भी रहेंगे, उसके पश्चात् धर्म का विच्छेद होगा। पुनः उत्सर्पिणी काल में पद्मनाभ नामक तीर्थंकर होंगे। वे जिनवाणी का प्रवर्तन करेंगे और चार तीर्थों की स्थापना करेंगे। जो भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सभी ने देशना दी और चार तीर्थ की स्थापना की। साथ ही धर्म की प्ररूपणा भी करते हैं। वस्तुतः जिसे हम धर्म कहते हैं, वह बहुत व्यापक है। धर्म को हम अहिंसा-संयम-तप रूप भी कहते हैं। स्थानांग सूत्र में- 'दुविहे धम्मे पण्णत्ते- सुय धम्मे चेव, चरित्त धम्मे चेव' भी कहा है। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में धर्म के दस भेद बतलाये गये हैं। इस प्रकार भेद कहे गये परन्तु यह भी कहा गया है- 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् जितने भी पदार्थ हैं, उनका जो स्वभाव है, वह धर्म है। अब धर्म को समझने में कठिनाई यह है कि इन सारी परिभाषाओं में व्यक्ति उलझ जाता है, निश्चय नहीं कर

पाता कि क्या अहिंसा-संयम-तप भी धर्म है ? हाँ, वे धर्म भी है। लेकिन दस धर्म की बात भी सच है। तो फिर किसको धर्म मानें ? उलझन में हम इस कारण पड़ते हैं, क्योंकि हम उन आगमों का गुरु मुख से अध्ययन नहीं करते अथवा कभी करते भी हैं तो पूर्ण उपयोग से नहीं। इस प्रकार के अध्ययन से तो हम धर्म की व्याख्या या आत्मिक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पायेंगे। धर्म के चाहे कितने ही रूप किये गये हों, पर वे सारे के सारे एक-दूसरे के पूरक हैं। किन्हीं को कारण, किन्हीं को कार्य रूप में ले सकते हैं और किन्हीं को स्वरूप के रूप में, जिसे हम प्राप्त हैं। श्री ठाणांग सूत्र में दस धर्मों की बात इस प्रकार कही गई है- "दसविहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा- गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पाखण्डधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुत्तधम्मे, चरितधम्मे, अत्थिकायधम्मे एव।" अर्थात् ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, पाखण्ड धर्म, कुल धर्म, गण धर्म, संघ धर्म, श्रुत धर्म, चारित्र धर्म और अस्तिकाय धर्म। ग्राम, नगर और राष्ट्र धर्म ये सारे कारण रूप में हैं। यदि श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना करनी है तो इन धर्मों की सुव्यवस्था भी आवश्यक है। यदि ग्राम की व्यवस्था सही नहीं हैं, परस्पर क्लेश, लड़ाई-झगड़े हो रहे हैं या आतंकवाद का बोल-बाला हो रहा है तो उस गाँव में कोई भी शांति से धर्म की आराधना नहीं कर पायेगा। ग्राम, नगर, राष्ट्र की व्यवस्था कारण रूप में रही हुई है, इसी प्रकार कुल, गण, धर्म आदि भी हैं।

ग्राम किसे कहा जाय- जहाँ बौद्धिक क्रिया-कलापों का विशेष विकास नहीं हुआ हो। नगर से तात्पर्य है- जहाँ बौद्धिक क्रिया-कलापों एवं सभ्यता-संस्कृति का विकास हो गया हो। व्यक्ति जानते हैं कि जहाँ अनेक प्रकार के व्यापार होते हैं, उसे नगर की संज्ञा दी जाती है। राष्ट्र की परिकल्पना से आप अवगत हैं। राष्ट्र के कुछ नियम होते हैं। जहाँ उनकी पालना हो रही हो तथा राष्ट्र की मर्यादा को भी ध्यान में रखा जाता हो, वहाँ राष्ट्र धर्म की स्थापना होती है। कुल धर्म- परिवार में पालनीय धर्म को कुल कहा जाता है। एक आचार्य का परिवार भी कुल है। तीन कुल

मिलकर 'गण' कहलाता है । गण के अन्तर्गत जो भी परिवारों को पूजा आदि के कार्यक्रमों में, जिनको बुलाते हैं, वे सभी जाति, संघ, कुल अथवा गण में समाविष्ट हो जाते हैं । वर्तमान में हम जहाँ श्रुत चारित्र धर्म की आराधना का स्वरूप लेकर चल रहे हैं, वहाँ ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि धर्म की आवश्यकता होती हैं । और नजदीक आते हैं तो जिस संघ में धर्म आराधना के लिये हम प्रवेश करते हैं, उस संघ की व्यवस्था को भी मुख्य रूप से स्वीकार करना होता है । यदि संघ में सुव्यवस्था नहीं तो धर्म की आराधना नहीं हो पायेगी । परिणाम स्वरूप मन में तनाव पैदा होगा, विचारों में असमंजस और अशांति की स्थिति बनेगी । ऐसा इसलिये होगा क्योंकि इनमें परस्पर संबंध होता है । मन के संबंध में तो हम जानते ही हैं कि यह तो स्वभाव से ही चंचल होता है । इसकी स्थिति तो ऐसी होती है, जैसे तालाब में पत्थर का टुकड़ा डाला और तरंगे उठने लगती हैं । तरंगों के कारण मन विचलित हो जाता है । इसमें आप ही नहीं, मैं भी सम्मिलित हूँ, क्योंकि हमारी सापेक्ष अवस्था है । यदि श्रोता एकाग्रता से सुने तो वक्ता भी तरंग में कहता चला जाता है । यदि वक्ता लाग लपेट के बिना तत्त्व की बात, आत्महित और जनहित की भावना से कहे तो वह निश्चित निर्जरा की स्थिति उपस्थित करता है । श्रोता के निर्जरा हो न भी हो, क्योंकि सुनने वाले भिन्न-भिन्न मानसिकता के होते हैं और सुनकर अपनी-अपनी तरह से उसे परिणत करते हैं । जब आकाश में स्वाति नक्षत्र आता है और उसका सूर्य से संयोग होता है, तब यदि वर्षा हो तो उसे अनमोल माना जाता है । स्वाति में जल बरसें और सीप के मुँह में पड़े तो मोती बनता है । पर खेती में पड़े तो भी मोती बन जाता है । स्वाति की एक वर्षा से जो भी फसल पैदा होती है, उसमें बहुत रस होता है, रस का फैलाव होता है । स्वाति की वही बूँद अलग-अलग बर्तनों में अलग-अलग शक्ल बनाती है । सीप के मुँह से मोती बनता है, किन्तु सर्प के मुँह में जाये तो वही पानी की बूँद जहर बन जाती है । वही बूँद बाँस में चली जाय तो वंशलोचन बन जाता है । वंशलोचन को आयुर्वेद में महत्त्वपूर्ण औषधी माना जाता है । वही

स्वाति का पानी केले के पेड़ में चला जाये तो कपूर बन जाता है । एक कवि ने लिखा है-

कदली, सीप, भुजंग मुख, स्वाति एक गुण तीन ।
जेहि जैसी करनी करी, तेहि तैसो फल दीन ।।

पानी एक है पर जैसी जिसकी पात्रता होती है, उसके अनुसार प्रकृति ग्रहण कर लेता है, वैसे ही यदि वक्ता स्वाति की वर्षा की भाँति बरसे तो निर्जरा करता है, पर श्रोता भी सीप बनकर ग्रहण करे तो ही मोती बनाता है, सर्प की प्रकृति से ग्रहण करें तो जहर ही बनेगा । कहा भी है-

'पयः पानं भुजंगानां, केवलं विषवर्धनं ।'

कोई सोचे कि सर्प को दूध पिला दें तो जहर कम हो जायेगा, पर ऐसा नहीं हैं । वह दूध तो भीतर जाकर विष में ही परिवर्तित हो जायेगा । वह केवल विष को बढ़ाने वाला ही बनेगा, विष को नष्ट या शांत करने वाला नहीं । इस प्रकार पात्र जिस रूप में ग्रहण करेंगे, उस रूप में प्रवचन का फल मिलेगा । किसी विषय को सुनकर अपनी प्रकृति के अनुसार अर्थ लगाने के बजाय संतों के माध्यम से जो वीतराग वाणी मिले, उसे क्षीर-नीर दृष्टि से ग्रहण करें । यह ध्यान रखें कि उसमें क्या ग्रहण करने योग्य है, क्या छोड़ने योग्य है और क्या जानने योग्य है । भगवान् ने जितना निरूपण किया है, क्या वह सारा ही ग्रहण करने योग्य है या उसमें कुछ छोड़ने योग्य भी है, यह हमें समझना है । प्रभु ने तो १८ पाप भी बताये, उन्हें छोड़ना है । सातवें व्रत में १५ कर्मादान की बात कही है, जिसमें कहा गया है- 'जाणियव्वा न समायरियव्वा ।' इन्हें जानना है, इन पर आचरण नहीं करना है । बारह व्रत के अतिचार जानने योग्य तो हैं, परन्तु आचरणीय नहीं हैं । इन्हें जानना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि जाने बिना छोड़ेंगे कैसे ? जहर को जाने बिना छोड़ेंगे कैसे ? इसलिये जहर को जानना आवश्यक है । कोई जहर को जाने नहीं और खा ले तो स्वयं को बचा नहीं पायेगा । प्रभु ने जो भी बात कही है, उसमें से जो जानने योग्य है उसे

जानें, जो छोड़ने योग्य है, उसे छोड़े और जो ग्रहण करने योग्य है, उसे ग्रहण करें। अतिचार जानने योग्य हैं। व्रत-प्रत्याख्यान आचरणीय हैं, स्वीकार करने योग्य हैं और १८ पाप छोड़ने योग्य हैं। छोड़ना कब होगा ? जब जानेंगे तब छोड़ पायेंगे। मान लो घर से रवाना हुए- कहीं जा रहे हैं, यदि बीच में नदी है, पुलिया नहीं हैं और नदी पार करनी है तो नौका का सहारा लेते हैं। मान लीजिये- वहाँ पर एक पत्थर की नौका और दो लकड़ी की नौकाएँ हैं, जिनमें एक में जगह-जगह छिद्र हैं पर दूसरी नौका मजबूत है। अब क्या करेंगे ? कोई सोचे, बड़ी नदी पार करनी है तो भारी भरकम नौका, पत्थर की लेनी चाहिये तो डूब जायेंगे। जिसमें छिद्र है, उससे पार कैसे पहुँचा जा सकता है ? वह भी पार नहीं पहुँचायेगी, थोडी दूर गई कि डूब जायेगी। किन्तु जो संगीन है, यदि उस पर आरूढ़ हो गये और खेवैया भी कुशल हुआ तो वह नाव पार करायेगी। इसी बात को आध्यात्मिक संदर्भ प्रदान किया गया है।

संघ धर्म की मर्यादा इसीलिये है, क्योंकि वह व्यवस्था बनाये रखती है। किन्तु जो उन्मुक्त होते हैं, जिन्हें निरपेक्ष जीवन में आनंद नहीं आता और सापेक्षता जिन्हें रुचती नहीं हैं, उनकी सफलता सुनिश्चित नहीं की जा सकती। बात टेढ़ी है। निरपेक्ष का तात्पर्य है- समाज में रहते हुए अपने आप को अपेक्षा से जोड़े नहीं। आप ध्यान दें, व्यक्ति स्वयं को दूसरों के साथ किसी अपेक्षा से जोड़ता है। समाज में रहता है तो अपेक्षा से जीता है। परन्तु यह नहीं होना चाहिये। अपेक्षा का संबंध व्यक्ति स्वयं से न जोड़े। यदि वह अपेक्षा से जीयेगा तो अपनी आत्मा को कलुषित करेगा, यदि तब वह चाहेगा कि अमुक पद मिले, यदि उसे वह पद न मिला तो वह संघ की निन्दा, विकथा करेगा। पद मिल गया तो वह कहेगा- समाज अच्छा है। किन्तु जो निरपेक्ष होगा, वह पद मिले या न मिले, सोचेगा- मुझे तो सेवा करनी है, संघ सेवा करनी है। अध्यक्ष, मंत्री बनकर क्या करना। क्या पद से ही सेवा कर पाऊँगा ? महात्मा गाँधी राष्ट्रपति कितनी बार बने, प्रधानमंत्री पद कितनी बार प्राप्त किया, केबिनेट मंत्री कितनी बार बने ?

नहीं बने पर लोग उन्हें याद करते हैं । ऐसा इसलिये है क्योंकि वे सोचते रहे थे कि मुझे निरपेक्ष रहकर कार्य करना है । जो सापेक्ष होगा, अपेक्षा में जीयेगा, पद की आकांक्षा रखेगा, वह कार्य नहीं कर पायेगा ।

राष्ट्रपिता कितने बने ? केवल एक । केवल गाँधीजी, इसलिये क्योंकि गाँधीजी को काम प्यारा था, वे निरपेक्ष जीवन जी रहे थे । ऐसा होता है- यथार्थ जीवन । कई व्यक्ति जो सापेक्षता में जीते हैं, यदि उनकी अपेक्षा पूर्ण न हो तो वे क्लेश और अशांति पैदा करते हैं । प्रभु ने कहा है- संघ धर्म में निरपेक्ष जीवन जीयें । यह सबसे बड़ी बात है । जो अपेक्षा जोड़ेगा कि पद मिले तब कार्य करूँगा तो समझ लेना चाहिये कि वह पद का भूखा है । ऐसा व्यक्ति कार्य कर नहीं पायेगा । जिसे पद की चाह है, उसे पद मिल गया तो भी वह काम नहीं करेगा, क्योंकि पद मिलने पर वह अपनी महत्ता का प्रदर्शन करेगा, जहाँ जायेगा, माला पहनेगा । राजनीति में हम यही देख रहे हैं, आज मंत्रियों के लिये तीन बातें प्रमुख रह गई हैं- उद्घाटन, भाषण और चाटन । यूं तो कहेंगे- फुर्सत नहीं है पर समाचार मिले कि अमुक का उद्घाटन है तो पहुँच जायेंगे, क्योंकि उन्हें पता होता है कि वहाँ फोटो खींचे जायेंगे, नाम होगा । नाम के लिये भाषण भी दे देंगे । जहाँ चाटने को मिले, वहाँ जायेंगे । ये अवस्थाएँ वहीं बनती हैं, जहाँ सापेक्ष होकर जीवन को जिया जाता है । मंत्री तो देखेंगे कि हमारी वोटर संख्या बढ़ जाये, किन्तु ग्राम के, नगर के, राष्ट्र के प्रति निरपेक्ष होकर कार्य करने के लिये वे तैयार नहीं होंगे । निरपेक्ष भाव के बिना संघ-धर्म का विकास नहीं होगा, केवल उलझनें ही बढ़ेगी, संघर्ष ही होगा । आचार्य श्री जवाहर ने संघ-धर्म पर गहन चिन्तन किया था और तब अपना मन्तव्य प्रकट किया था । उन्होंने संघ-धर्म के संबंध में दो बातें कही हैं- १. लौकिक, २. लोकोत्तर ।

लोकोत्तर वह है- जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना होती है और जिसके सूत्रधार हैं- साधु-साध्वी । लौकिक धर्म में सुरक्षा का कर्त्तव्य मुख्य रूप से श्रावक-श्राविका वर्ग पर होता है । यदि वे कर्त्तव्य पालन नहीं

करें तो संघ-धर्म पर कुठाराघात होगा। जो यह कहे- हमें क्या करना, तो समझ लीजिये कि वह सापेक्ष जीवन जीता है। यदि उसकी अपेक्षाओं की पूर्ति न हो तो उसकी प्रतिक्रिया होगी- मुझे क्या करना है ? क्योंकि पद नहीं है, इसलिये वह ऐसा सोचता है, पद मिल जाये तो उसकी प्रतिक्रिया वदल जायेगी। जो अपने कर्त्तव्य को जानता है, वह ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा- संघ-रक्षा में कुर्वानी करनी पड़े तो भी मैं तैयार हूँ। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संघ-धर्म की सुरक्षा होती है।

हम सामायिक करें या साधु-जीवन की आराधना करें, किन्तु यदि मानसिक शांति नहीं है, विग्रह रहा है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना वन नहीं पायेगी। जहाँ आराधना नहीं वनेगी, वहाँ राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय आदि के भाव वनेंगे और चारित्र की आराधना सुव्यवस्थित नहीं रह पायेगी। इसलिये ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म आदि का प्रावधान किया गया है। उसके आधार पर ही श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना सही ढंग से हो सकेगी। प्रभु का निर्वाण रुकने वाला नहीं था, यह वात प्रभु जानते थे फिर भी उन्होंने संघ की व्यवस्था की। उन्होंने यह नहीं सोचा कि मुझे संघ से क्या मतलव ? उन्होंने अपने पीछे आचार्य सुधर्मा स्वामी को जो गणधर थे, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया, क्योंकि वे जानते थे कि संघ धर्म के विना, धर्म सुरक्षित नहीं रह पायेगा। इसी दृष्टि से उन्होंने गौतम स्वामी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया, क्योंकि गौतम स्वामी को कुछ समय पश्चात् ही केवलज्ञान होने वाला था। इतिहास साक्षी है कि आचार्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार निरन्तर शृंखला वनी रही।

गच्छाचार पइणा में कहा गया है- 'तित्थयरो समो सूरि।' आप कहेंगे तीर्थंकर समान आचार्य क्या यह अतिशयोक्ति नहीं है ? तीर्थंकर तो केवलज्ञान-दर्शन के धारक होते हैं। आचार्य तो केवली नहीं होता, पर केवलज्ञान वाला क्या आचार्य होता है ? केवलज्ञान होने पर तो वह अरिहन्त हो जायेगा फिर वह आचार्य पद पर नहीं रहेगा। आचार्य पद छद्मस्थ का

होता है । यदि केवली का होता तो भगवान् गौतम स्वामी को भी आचार्य बना सकते थे किन्तु प्रभु जानते थे कि मेरे निर्वाण के पश्चात् ये केवली हो जायेंगे । परम्परा केवली से नहीं छद्मस्थ से चलती है । यदि लौकिक लोकोत्तर धर्म की सुरक्षा नहीं हो तो श्रुत-चारित्र-धर्म की आराधना सम्यक्तया नहीं हो सकेगी ।

संघ धर्म की सुरक्षा हेतु चार तीर्थ स्थापित किये गये हैं, जो आधार स्तंभ एवं मार्गदर्शक होते हैं, यदि वह ऐसे नहीं हों तो किस आधार पर आराधना होगी ? आचार्य तो तीर्थंकर की वाणी को प्रवाहित करते हैं । जैसे तीर्थंकर संघ की सारणा, वारणा, धारणा करते हैं, वैसे ही आचार्य चार तीर्थ की सारणा, वारणा, धारणा करते हैं । इसलिये उनकी तीर्थंकर के साथ तुलना की गई है ।

कभी-कभी एक जिज्ञासा सामने आती है कि आचार्य के नाम के पूर्व १००८ क्यों लगाते हैं ? कई भाई यह कारण नहीं जानते हैं कि तीर्थंकर के १००८ शुभ लक्षण होते हैं-

"अट्ठसहस्स लक्खण धरो ।" उनके उत्तराधिकारी आचार्य होते हैं । उसका उपचार आचार्य में किया जाता है, इसलिये उस रूप में संबोधित किये जाने के लिये आचार्यों के नाम के साथ भी १००८ लगता है । इसमें सम्मान का भाव है । इस प्रकार यह सम्मान व्यक्ति का नहीं, पद का होता है । जरा विचार करें- यदि कोई राष्ट्रपति का अपमान करें तो अपमान किसका होगा ? मान लीजिये- भारत का राष्ट्रपति रूस या अमेरिका जाये और वहाँ कोई उनका अपमान कर दें तो क्या भारतीय अपना माथा ऊँचा करके चल सकेगा ? वह अपमान राष्ट्रपति का नहीं पूरे भारत का होगा । यदि कोई सोचे- यह अच्छा हुआ, वह तो अपमान के ही काबिल था तो समझ लीजिये कि वह राष्ट्र धर्म को नहीं जानता है । कोई भारतीय ऐसा कहे तो क्या वह राष्ट्र के प्रति समर्पित माना जायेगा ? ये सब विचारणीय विषय हैं ।

ऐसी ही स्थिति धर्म संघ के नेता, आचार्य की होती है । यदि कोई उनका तिरस्कार करें, उनकी अवज्ञा करें, उनका वहिष्कार करें तो माना जायेगा कि वह आचार्य का नहीं, संघ का तिरस्कार करता है । यह आचार्य का ही नहीं, धर्म का भी अपमान होगा और यदि व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें और परम्परा पर दृष्टिपात करें तो वह तीर्थंकर का अपमान होगा । यह पद व्यक्ति का नहीं है, यह आचार्य श्री सुधर्मा की पीठ है, तीर्थंकर द्वारा प्रतिष्ठित है । इसे भगवान् ने प्रतिष्ठित किया है । इसलिये प्रकारान्तर से यह तिरस्कार प्रभु महावीर का होगा । विचार करने की वात है कि प्रभु महावीर का तिरस्कार कर क्या हम स्वयं को प्रभु महावीर का उपासक कह सकते हैं ? इस संवंध में कहा गया है-

'न यावि मोक्खो गुरु हीलणाए ।'

यदि गुरु की आशातना, हीलना की गई है तो भगवान् महावीर अथवा गुरु की चाहे जितनी बार ही जय वोल लें, किन्तु आराधना नहीं हो पायेगी । पहले स्वयं का आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित से शुद्धिकरण होगा, तव आराधना होगी । यदि हम आगमों का अध्ययन करें तो यह वात समझ में आ सकती है, परन्तु आज श्रावक उन्हें पढ़ना नहीं चाहते, उन्हें समय ही नहीं है । उन्हें प्रिय है- केवल 'भज कलदारं ।' उनकी तो यही कामना रहती है कि हमें कोई ऐसा मिल जाय, जो धन प्राप्ति का मंत्र दे दें, फिर हमें क्या लेना-देना ! फिर चाहे वह भगवान् की अवज्ञा, तिरस्कार या वहिष्कार ही क्यों न करें पर हमें विचार नहीं होगा । कोई पाँच पैसे अर्जित करने का रोजगार वता दे, वह हमारे लिये सर्वेसर्वा हो जायेगा, किन्तु जो जीवन उद्धार की वात वताने वाले हैं, उनके लिये हमारे भीतर क्या श्रद्धा भाव है ? आज हम धर्म आराधना करना चाहते हैं, किन्तु यह भी देख लें कि भीतर विचारों की शुद्धि है या नहीं ? कहीं भीतर मलिनता तो नहीं है ?

आपने आनंद श्रावक की कथा सुनी होगी । पूछने पर आप वता देंगे

कि आनन्द श्रावक ने बारह करोड़ सौनेया रखकर धन का परिमाण कर लिया । आगे यह भी बता सकते हैं कि उसके चालीस हजार गायें थीं, क्या इतना ही है, आनन्द का जीवन चारित्र ? नहीं, यदि आपने उनके जीवन को गहराई से पढ़ा होगा तो आपको ज्ञात होगा कि आनन्द ने प्रभु का उपदेश सुना, व्रत स्वीकार किये । साथ में भगवान् से एक प्रतिज्ञा और ग्रहण की । यह प्रतिज्ञा थी- भगवन् ! कोई भी साधु यदि संघ छोड़कर अन्य रूप में अपनी प्रतिष्ठा बनाने का प्रयास करें तो मुझे उसे वंदन नमस्कार करना, उसका सत्कार-सम्मान करना, उससे आलाप-संलाप करना और उसे गुरु-बुद्धि से दान देना नहीं कल्पता है । उपासकदशांग सूत्र में यह स्पष्ट उल्लेख है । उसे यह प्रतिज्ञा लेने की क्या आवश्यकता थी ? वह जानता था- यदि यह व्यवस्था नहीं रही तो संघ-धर्म की सुरक्षा नहीं हो सकेगी । आनन्द श्रावक भगवान् महावीर के दस श्रावकों में प्रथम था । उसने यह प्रतिज्ञा धारण की । कोई सोच सकता है कि प्रभु महावीर के शासन में यह कैसी संकुचित वृत्ति प्रचलित थी कि दूसरे से बोलो मत और उसे वंदन मत करो ! परन्तु ऐसा चिन्तन भ्रामिक होगा । जरा हम सोचें कि आज का युग तो समन्वय का है, किन्तु हमने समन्वय का सही अर्थ एवं रूप समझा है क्या ? समन्वय किसका करना, कैसे करना, उसका तौर-तरीका क्या होगा, यह भी सोचा क्या ? यह तो नहीं कि थोड़ी इसकी ले लें, थोड़ी उसकी ले लें और समन्वय कर दें । "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा ।" यह तो राजनैतिक धरातल वाला समन्वय होगा । हमारे पाँच महाव्रत हैं, आपके अणुव्रत हैं तो क्या करें ? कुछ महाव्रत छोड़, कुछ अणुव्रत जोड़ लें तो क्या हो जायेगा समन्वय ? एक व्यक्ति के लहसुन खाने के प्रत्याख्यान है, दूसरा लहसुन खाता है । लहसुन खाने वाला कहे- मैं १५ दिन त्याग कर लूँगा और तुम १५ दिन लहसुन खाओ, ऐसा हम समन्वय कर लें तो क्या ऐसा कहना समन्वय होगा ? नहीं, यह समन्वय नहीं होगा । समन्वय होता है- शुद्ध धरातल पर । मर्यादा के साथ अन्यथा समन्वय नहीं, समझौता हो सकता है । आज साधु को आप

वंदन करते हैं और आप जो माथा माता-पिता को नहीं झुकाते, वह साधु के चरणों में झुकाते हैं । यदि साधु नियम-मर्यादा से समझौता करने लगें तो क्या उन्हें नमन करेंगे ? क्या माथा झुकेगा उनके आगे ? नमन किसे करना ? कभी सोचते हैं कि सभी साधु हैं तो वन्दन क्यों नहीं करना ? यदि यह मानते हैं तो एक बहुरूपिया भी साधु की पोशाक पहन ले, तो उसे वंदन करोगे क्या ? सभी साधु हैं तो उसने क्या बिगाड़ा, पोशाक को नमना है तो पोशाक तो उसने भी पहन रखी है । नहीं, गुणों की पूजा होती है, पोशाक की नहीं । सही बात यह है, माप दंड़ है- गुणों का और पूजा भी होती है- गुणों की ही ।

भगवान् ने कहा है- जो आचार्य के अनुशासन में चल रहा है, वह गुणों का भंडार है । उसमें दुर्गुण भी हो सकते हैं, किन्तु अनुशासन की डोर से तो वह बँधा है । उसमें सुधार भी संभव है, यदि पतंग की डोर हाथ में नहीं, डोर टूट गई तो क्या होगा ? लोग लूट लेंगे । कई लोग बाँस में काँटें लगा कर रखते हैं और कटी पतंग को लूटते हैं । इस प्रकार कटी पतंग को कितने ही काँटें चुभेंगे, उसे लूटने की स्थिति भी बनेगी । डोर टूटी फिर उसमें सद्गुणों का समावेश नहीं रहेगा । आगम इसका प्रमाण है। प्रभु महावीर ने कहा है- 'छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं', डोर टूटी कि व्यक्ति स्वच्छंद हो जाता है । स्वच्छंद व्यक्ति को मोक्ष नहीं हो सकता- 'ण यावि मोक्खो गुरु हीलणाए ।' उसकी भी मोक्ष नहीं हो सकती, जो गुरु की अवज्ञा करता है । सिद्धसेन दिवाकर के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि नवकार मंत्र प्राकृत में है- लोगों के लिये उसे समझना कठिन होता है, वे संस्कृत के विद्वान् थे । उन्होंने नवकार मंत्र को संस्कृत में निबद्ध किया, उसे गुरु चरणों में प्रस्तुत किया । मन में खुश थे कि गुरु आशीर्वाद देंगे । सिद्धसेन आचार्य ही नहीं धुरन्धर विद्वान् भी थे । शासन की प्रभावना करने वाले थे । गुरु ने कहा- "सिद्धसेन जानते हो, अवज्ञा करने वाला किसका अधिकारी है ? तुमने तीर्थंकरों की अवज्ञा की है । तुम्हारा अपराध क्षम्य नहीं है ।" उन्हें प्रायश्चित दिया कि १२ वर्ष संघ से बाहर रहकर साधना

करो, साधना में कहीं दोष न लगे। १२ वर्ष पश्चात् पुनः संघ को इकट्ठा कर माफी माँगे। यह पारांचिक प्रायश्चित है। अवज्ञा मामूली बात नहीं है। आज तो कहते हैं- जन तंत्र पद्धति है, कोई राष्ट्रपति को भी गाली दे सकता है। किन्तु वह स्वच्छंदता है, स्वतंत्रता नहीं है। भगवान् ने स्वतंत्रता को जन्म सिद्ध कहा है, पराधीन रहने को नहीं। स्वतंत्रता का मार्ग है। जब साधक प्रभु के चरणों में पहुँच वन्दन करते हैं- भगवन् ! मैं बेले-बेले पारणा करना चाहता हूँ। तब वे कहते हैं- 'अहासुहं' अर्थात् जो इच्छा हो, जिसमें सुख हो, वह करो। पर ऐसा कब कहते हैं ?

जिसमें आत्म अनुशासन है, उसे भगवान् ने 'अहासुहं' कहा, किन्तु जो स्वच्छंद था, उसके संबंध में भगवान् मौन रहे। जमाली जब उपस्थित हुआ और विहार की बात कही तो भगवान् मौन रहे, वह निन्हव बना। विपरीत प्ररूपणा की। भगवान् के पास वापस पहुँचा तो कहने लगा- गौतम, तीर्थंकर महावीर नहीं, मैं हूँ। इस अवस्था में प्रभु मौन रहे। भगवान् ने स्वच्छंदता का पोषण नहीं किया। स्वतंत्र बनो, किन्तु स्वच्छंद नहीं। 'छंदं निरोहेण' स्वच्छंदता रूकेगी तभी मोक्ष मिलेगा। पतंग की डोर हाथ में है, तभी तक उसकी कीमत है। डोर टूटी कि वह पतन के गर्त में गिर पड़ती है। हाँ, वह फिर से हाथ में आ गई तो फिर कदर हो सकती है। संघ-धर्म की आवश्यकता एवं व्याख्या की बात आचार्य जवाहर के उस व्याख्यान में हैं जो 'जवाहर किरणावली' की तेरहवीं किरण में संकलित है। उसमें उन्होंने कहा है कि जिस साधु की गुरु से पटरी न बैठे और वह गुरु की अवमानना कर निकल जाये, गुरु की अवज्ञा, तिरस्कार या बहिष्कार करे और उसकी श्रावक पूजा करें तो ऐसे श्रावक आचार्य की अप्रतिष्ठा, संघ-धर्म का मूलोच्छेद तथा संघ-धर्म पर कुठाराघात करने वाले होते हैं। जो संघ पर कुठाराघात करे, वह अपनी आत्मा को तिराने वाला नहीं बन सकता। वह तो उस नौका की तरह है, जिसमें अनेक छिद्र हैं। यह ऐसा विषय है जिस पर हमें सोचने की आवश्यकता है। जो अनुशासन में चलता है, उसके लिये कहा गया है-

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायए ।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगइ जहा ।।

जो गुरु के प्रति समर्पित है और संघ-धर्म की आराधना करता है, वह मेधावी नमता है, उसकी लोक में कीर्ति होती है, वह गुणों का आधार भूत है । जैसे पृथ्वी प्राणियों के लिये आधार भूत होती है, वैसे ही वह अनेक गुणों का आधार भूत बन जाता है । यह तो जो मर्यादा में रहे, उसकी बात है किन्तु जो स्वच्छंद चलता है, वह साधना-आराधना नहीं कर पाता । कटी पतंग की भाँति संसार को बढ़ाता है । जमाली भगवान् का जंवाई था पर शासन में कोई भेद-भाव नहीं होता । वहाँ भाई-भतीजावाद नहीं चलता । यदि वहाँ भाई-भतीजावाद हो तो वहाँ आध्यात्मिक साधना संभव ही नहीं रहेगी । शासन के सामने तो सभी समान हैं । श्रेणिक ने भगवान् से पूछा था- आपके इतने साधुओं में कौन महानिर्जरा, महापर्यवसान करने वाला है ? भगवान् ने गौतम का नाम नहीं लिया, लेकिन कहा- धन्ना अणगार धन्य है, जो १४ हजार साधुओं में महानिर्जरा महापर्यवसान करने वाला है । क्या भगवान् ने गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी का अपमान किया, जो इतने बड़े गणधर थे ? उनके लिये नहीं कह कर, सामान्य साधक धन्ना का नाम लिया ? भगवान् के सामने तो सत्य की, यथार्थ की महिमा है । उससे ही संघ-धर्म सुरक्षित रहता है । जो संघ-धर्म को जानकर उसका अनुसरण करता है, नमता है, वह गुणों का स्वामी बनता है । जो स्वच्छंद हो कर चलता है, उसको वंदना- नमस्कार करने वाले के लिये निशीथ सूत्र में कहा गया है-

'नेव कित्ति न निज्जरा होइ, अन्नाण कम्मं च वंधई ।'

यह दूसरा पक्ष भी जान लें । कभी-कभी कहते हैं कि गुरु की अवज्ञा, अवहेलना कर दी । क्या इतने मात्र से उसे वंदन न करें, उसका व्याख्यान न सुने ? उत्तर हो सकता है- क्यों नहीं सुनें ? वह भी ज्ञान की बात बतायेगा ।

उसका समाधान यह है कि यथार्थ ज्ञान जहाँ से मिले, ग्रहण करना चाहिये। मिलावटी ज्ञान खतरनाक होता है, जैसे बर्तन में दूध भरा हो, किन्तु उसमें जहर मिला हो तो पीना चाहिये क्या ? जैसे जिस दूध में जहर है, वह नहीं पीयेंगे, वैसे ही ज्ञान तो बहुत है पर उसमें यदि गुरु की अवज्ञा एवं अहं रूप जहर मिला हुआ है तो वह ज्ञान अमृत का कार्य नहीं करेगा। जो जहरीला ज्ञान है, वह आत्मा को पतन मार्ग पर ही ले जायेगा, उत्थान मार्ग पर नहीं। स्वच्छंद बन कर जो चेलगा, वह कटी पतंग की तरह होगा। मैं पहले ही कह गया हूँ कि डोर हाथ में रहेगी तो वह गुणों का पात्र बनेगा। डोर अनुशास्ता के हाथ में है तो यदि पतंग गिरे तो भी उठने का आधार है, डोर टूटी तो पतन निश्चित है। एक बात और कही थी- कटी पतंग फिर से हाथ में आ जाये तो उसे फिर से उड़ाया जा सकता है। यदि उसमें कहीं छिद्र हो गये हैं तो चेपे लगाकर तथा नये डोरे से जोड़कर उसे पुनः उडाया जा सकता है। यह समन्वय है तो हो सकता है और होता भी रहा है। किन्तु लहसुन वाली बात की तरह समन्वय नहीं हो सकता। वह कोई समझौता का तरीका भी नहीं है। ऐसे की निर्जरा भी नहीं होती। कोई कह दे एक बार वंदन कर लें तो क्या हर्ज है, संसार में बहुत से कार्य करते ही हैं, यह एक और सही। परन्तु यह तर्क ही गलत है। इस संदर्भ में कहा गया है- 'नेव कित्ती न निज्जरा होइ....।' यह शास्त्र सम्मत बात है। निशीथ सूत्र, व्यवहार भाष्य में कहा गया है- संघ का मूलोच्छेद करने वाला, उसका अनुमोदन करने वाला, दोनों प्रायश्चित के भागी हैं। एक व्यक्ति परिवार तोड़ने की बात करें, एक जोड़ने की तो सोचिये कौन ठीक है ? एक तो आग लगाता है, एक आग बुझाता है, दोनों में ठीक किसे कहा जायेगा ? आग लगाने वाले को महापापी कहा गया है, जबकि बुझाने वाले को पुण्यात्मा। हम उन दोनों के विचारों की तुलना करें। आग लगाने वाला क्लेश बढ़ाने वाला होता है, वह अधर्म का वाहक होता है। आग दिया सलाई से ही नहीं, शब्दों से, विचारों से भी लगाई जाती है। वचन-बाण से लगा घाव हरा रहता है, जल्दी भरता नहीं है।

कोई संघ धर्म पर कुठाराघात करें तो श्रावक का कर्त्तव्य है कि उसे समझाने का प्रयत्न करें। जमाली पाँच सौ साधुओं को लेकर अलग हुआ तो भगवान् महावीर की लड़की, जो जमाली की धर्मपत्नी थी, भी एक हजार साध्वियों को लेकर अलग हो गई। जमाली के साथ वाले अनेक संत तो प्रभु के पास वापस आ गये पर प्रियदर्शना जो जमाली का मत लेकर चल रही थी, एक बार ढंक श्रावक जो कुम्हार था, उसके घर पहुँची, आज्ञा लेकर ठहर गई और पसीने से भीगी चादर सुखाने का प्रयत्न करने लगी। ढंक ने स्थान की मनाही नहीं की, पर उससे वार्तालाप नहीं किया, उसे वंदन-नमस्कार भी नहीं किया। मकान तो अतिथि को भी दिया जाता है, मानवीयता का यही तकाजा है, अमानवीय नहीं बना जाता। ढंक ने अवाडे से एक अंगार उठाया और चादर पर डाल दिया। आज कोई ऐसा कर दे हमारी चादर पर, तो हम सोचेंगे कि ये तो साधु को बदनाम और तंग कर रहा हैं। ढंक ने अंगारा डाला, चादर जलने लगी। प्रियदर्शना ने कहा- चादर जली, चादर जली। ढंक ने कहा- क्या बोल रही हो, कहाँ जली ? यह तो भगवान् महावीर का सिद्धान्त है- 'डज माणे डजिए' चलते हुए को चला और जलते हुए को जला मानें। जमाली के सिद्धान्त के अनुसार तो जब वह सारी जल जाये, तब कहना चाहिये- चादर जली। वह इसी बात पर अलग हुआ था। कहा- चादर अभी जली कहाँ है ? जब प्रियदर्शना ने यह सुना तो अक्ल ठिकाने आ गई। उसने जमाली को समझाने का प्रयत्न किया, पर वह नहीं समझा। तब वह भगवान् के पास गई। पहले तो पति के पीछे बढ़ गई थी पर जब सत्य का बोध हुआ तो ठिकाने पहुँच गई। डोर टूट चूकी थी पर वापस हाथों में पहुँच गई। विचारों में जो खरोंच आ गई थी, उसे आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित से ठीक कर लिया। पर ऐसा होता है- समर्पण से। अलग हुई तो भगवान् ने यह नहीं सोचा कि बेटी है। वहाँ सिद्धान्त मर्यादा के साथ समन्वय नहीं है। समन्वय समन्वय के तरीके से होता है। उसने शुद्धिकरण कर लिया तो वापस शासन में आ गई। यह है- संघ-धर्म। उसकी व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। इसे हम जब तक न जान लें,

तब तक श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना नहीं कर पायेंगे। अतः हम दस धर्मों का स्वरूप जानें। संघ धर्म की बात को विस्तार से इसलिये समझाया गया है क्योंकि यह श्रुत धर्म और चारित्र धर्म के नजदीक है। बातें बहुत है, कही जा सकती है। एक साथ कहूँ और ग्रहण में ऊँची-नीची आ जाये तो बात ऐसे ही चली जायेगी परन्तु प्रथम आवश्यकता संघ धर्म के स्वरूप को समझने की है। इस विषय में कोई संशय हो अथवा शंका हो तो उसका समाधान अवश्य कर लें ताकि विचारों में स्पष्टता एवं मन में आस्था बरकरार रहें। इस प्रकार संघ धर्म के स्वरूप को समझ कर जिन शासन की सेवा करेंगे तो ही अपना स्वयं का और समाज का भला कर पायेंगे।

दिनांक : ११.१.१६६७, बम्बोरा

१७. अलौकिक चेतना के जागरण की आवश्यकता

सुमति चरण कर आत्म अर्पणा....।

श्री सुमतिनाथ भगवान् की प्रार्थना के माध्यम से कवि ने चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की दिव्य देशना की महिमा का बखान किया है । यह देशना अनंतकाल से दुःख प्राप्त कर रही भव्य आत्माओं को बोध देने वाली है । हम जानते हैं कि ये भव्य आत्माएँ अनंतकाल से दुःख से संत्रस्त रही हैं । ये आत्माएँ दुःखों से मुक्त होना चाहती है, पर चाहते हुए भी दुःखों से मुक्त हो नहीं पा रही है । कारण स्पष्ट है, उन्होंने अब तक दुःख के स्वरूप को ही नहीं जाना है । व्यक्ति जिन्हें सुख मान रहा है, सोच रहा है- मैं सुखी हूँ, यही भ्राँति उसके दुःख का कारण है । धूप में बैठा व्यक्ति जब तेज गर्मी से छाया में पहुँचता है तो सोचता है- मैं सुखी हो गया किन्तु वही छाया जब शीत लहर चल रही हो, तब दुःख देने वाली बन जाती है । इसका मतलब यह हुआ कि वह सुख स्वतंत्र न होकर किसी पर अवलंबित था । जो सुख किसी पर अवलंबित हो, वह हमारा सुख कैसे हो सकता है ? ज्यों ही अवस्था या स्थिति बदलेगी, वह सुख छिन्न-भिन्न हो जायेगा । व्यक्ति यदि इस बात को जान लें और अनुभव कर लें तभी वह दुःख से मुक्त हो सकता है ।

इस संदभ में- सुमतिनाथ भगवान् की प्रार्थना के माध्यम से कवि ने आत्मा को संबोधित करते हुए कहा है कि जब तक सुमति का संयोग नहीं होगा, तब तक व्यक्ति सुख की भ्रांत अवस्था का ज्ञान नहीं कर पायेगा, न दुःख-सुख का विभाजन ही कर पायेगा । आज व्यक्ति दुःख की कल्पना से दुःखी है और चाहता है कि वह दूर हो और मैं सुखी बनूँ पर क्या यह निश्चित है कि वह पूर्ण संतुष्ट हो जायेगा और आगे उसकी चाह नहीं

जगेगी । थोड़े ही समय बाद उस पदार्थ से उसका मन भरा नहीं कि वही पदार्थ उसके लिये जंजाल बन जायेगा, दुःख देने वाला बन जायेगा और वह उससे मुक्त होना चाहेगा । इसे एक उदाहरण से समझें । मान लीजिये एक व्यक्ति घर में रंगीन टी.वी. लाया । टी.वी. लाने वाला उस गाँव में वह पहला व्यक्ति था, जिसके घर सबसे पहले टी.वी. आया । तब उसे कितनी प्रसन्नता होगी, वह घर-घर में प्रदर्शन करेगा कि मेरे यहाँ टी.वी. है, मेरे यहाँ टी.वी. है । परन्तु यदि उसके बाद कोई नया टी.वी. ईजाद हुआ और दूसरा व्यक्ति उससे सुन्दर टी.वी. ले आया तो उसके दिल को ठेस लगेगी, उसकी वह प्रसन्नता गायब हो जायेगी और उसका स्थान ईर्ष्या ले लेगी । मन ही मन वह कुंठित होगा । वह कुछ कह तो नहीं सकेगा, पर उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जायेगा । हम ऊपर से भले न समझ पायें कि उसके व्यवहार में यह परिवर्तन क्यों हुआ पर उसका भी कारण है, इस कारण को चेतना के स्तर के आधार पर समझें ।

चेतना के दो विभाग हैं- १. लौकिक चेतना, २. अलौकिक चेतना । उसके व्यवहार में परिवर्तन का कारण लौकिक चेतना है । आप सोचेंगे कि यह चेतना की बात बीच में कहाँ से आ गई ? हमने अब तक जीव के दो ही भेद सुने हैं- १. सिद्ध, २. संसारी पर इनमें आगे भी भेद हैं ।

संसारी जीव के भेद करें तो दो भेद बनेंगे- १. त्रस, २. स्थावर । इनके भी आगे और विभाग करें तो बनेंगे- संयति और असंयति । इस प्रकार विभाग अनेक हो सकते हैं । अस्तु, मैं पूर्व कथित-लौकिक और अलौकिक चेतना में सभी आत्माओं का समावेश मानता हूँ । दुनियाँ में आपको कहीं भी ये दो चेतनाएँ ही नजर आयेंगी । व्यवहार में जो परिवर्तन होता है, उसकी पृष्ठ भूमि में भाव होते हैं । भावों के साथ लौकिक चेतना का संबंध है । उस लौकिक चेतना से जो भिन्न-भिन्न भाव बनते हैं, उन्हीं से परिवर्तन होता है । परिवर्तन किसी भी स्थिति में हो सकता है । अब देखें परिवर्तन आज भी हुआ है । यह समय मंगल पाठ सुनाने का होता

है, किन्तु आज प्रवचन प्रारंभ हुआ है । इस रूप में परिवर्तन हुआ है । इस स्थिति को एक अन्य कोण से समझें ।

एक व्यक्ति ऑफिस में बैठा है, वह खुश है, हर्षित है । आराम से बैठा है, सहसा फोन की घंटी बजी, उसने फोन उठाया, चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और वह उदास हो गया । यह परिवर्तन हो गया । अब तक खुश था, अचानक इतना तनावग्रस्त क्यों हो गया ? इसका कारण है- उसने जो संवाद सुना, वह मन को प्रिय नहीं था, इस कारण उसकी लौकिक चेतना पर विपरीत प्रभाव पड़ा । यह प्रभाव पडते ही ऊपर से व्यवहार में विपरीतता झलकने लगी । लौकिक चेतना का स्वरूप क्या होता है और अलौकिक चेतना किसे कहते हैं । यदि इसकी परिभाषा ही करनी है तो एक लाइन में कहा जा सकता है कि- "जो अपने भीतर नहीं झाँकती, वह लौकिक चेतना है, जो अपने भीतर झाँकने का उपक्रम कर रही है या झाँकने की दिशा में गतिशील है, वह है- अलौकिक चेतना ।" पर इन दोनों का भेद ऊपर से कैसे ज्ञात करें ? भीतर झाँकना या नहीं झाँकना, यह ऊपर से मालूम नहीं पड़ता । यह तो व्यवस्था की गई है । जिस समय हम योग या ध्यान की परिभाषा करेंगे, उस समय इन चेतनाओं का विभाग किया जाय या इनके स्वरूप की अभिव्यक्ति की जाय, तब ही परिभाषा की जा सकेगी, यद्यपि ध्यान में परिभाषा नहीं होती । ध्यान अनुभूति है । अनुभूति को शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता । शब्दों में जो कुछ व्यक्त होगा, वह एक झलक होगी, यथार्थ नहीं । आप ने गुड़ खाया । गुड़ का स्वाद जो अनुभव किया, उसे क्या व्यक्त किया जा सकता है ? आप यही कहेंगे- गुड़ मीठा है । मीठा कैसे होता है, मिठास क्या होती है ? उसे कोई अभिव्यक्ति नहीं दे सकता । कबीर ने ईश्वर प्रेम या भक्ति को 'गूंगे का गुड़' कहा है । मैं कहता हूँ- गूंगे का नहीं किन्तु जो देख, सुन, चख और कह सकता है, वह व्यक्ति भी कहेगा मीठा है पर मिठास की अनुभूति व्यक्त नहीं कर पायेगा । शब्दों में केवल झलक होगी । मिठास-मिठास में भी अन्तर होता है, एक तो गुड़ की मिठास होती है, एक शक्कर की और एक बीकानेर के

रसगुल्ले की। इनकी मिठासों में अन्तर आयेगा, पर व्यक्त करने के लिये एक ही शब्द है- मीठा। यद्यपि मिठास तो मिठास ही है। हम अधिक से अधिक विभाग कर सकते हैं- मिष्ट, मिष्टतर, मिष्टतम।

भगवान् ने कहा है- वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के अनंत प्रकार होते हैं। मिठास की अनुभूति के भी अनंत विकल्प हैं, किन्तु शब्द अनंत नहीं हैं। एक मिठास की अनुभूति को व्यक्त करने के लिये भी पूरे साधन नहीं है। व्यक्त केवल एक झलक ही हो सकती है। गुड़ के संदर्भ से आप बात समझ गये होंगे। जो उसका आस्वादन कर चुका है, वह समझ लेगा कि मिठास क्या होती है, किन्तु यदि उसने खाया ही नहीं है तो मीठे की अनुभूति नहीं होगी। अनुभूति भी सामने वाले के स्तर पर बनती है, तभी तो कहा जाता है- "पशु खल खात सवाद सो, गुड़ गुलुआए खाय।" तब यह स्पष्ट है कि शब्दों में झलक या अनुमान ही होगा, यथार्थ नहीं।

मैंने कहा है- ध्यान की अनुभूति होती है, उसकी परिभाषा करना कठिन है पर फिर भी परिभाषा की जाती है, केवल अनुमान कराने के लिये। जहाँ परिभाषा है या प्रतिक्रिया है, वहाँ लौकिक चेतना है, लेकिन जहाँ क्रियात्मक भाव है, वहाँ प्रतिक्रिया नहीं होगी, वहाँ अलौकिक चेतना है, गूंगे का गुड़ है। कहा जाता है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। होती है तो स्पष्ट है कि लौकिक चेतना प्रवाह में चलने वाली होती है। अनुश्रोतगामी होती है, वह कभी भी अपने आप को विपरीत दिशा में ले जाने की क्षमता नहीं रखती। जहाँ यह लौकिक चेतना है, वहाँ प्रतिक्रिया होगी। यदि कुएँ में कोई आवाज लगाए- तेरा बाप चोर है तो वहाँ से प्रतिध्वनि निकलेगी, प्रतिक्रिया होगी- 'तेरा बाप चोर है।' पहले क्रिया की तभी प्रतिक्रिया हुई। लौकिक चेतना में जीने वाले प्रतिक्रिया से ऊपर उठ नहीं पाते। वे प्रतिक्रिया करेंगे- भोजन कैसे बनाया है, नमक नहीं है, स्वाद नहीं हैं आदि आदि। एक भोजन की ही नहीं प्रत्येक पदार्थ की प्रतिक्रिया बनेगी। लौकिक चेतना में जीते हुए अलौकिक चेतना को जागृत नहीं किया जा सकता। यदि भीतर झाँकें तो वहाँ की अनुभूति में अंतर है, फिर हमें बाहर की अनुभूति

बेस्वाद लगेगी । जैसे किसी ने निरन्तर नमक रहित अलूणा भोजन किया हो, वह एक बार नमक चख ले । नमक जो रसों का रस है तो उसे नमक वाले भोजन में अनोखा स्वाद मिलेगा । पहले चखा नहीं था, तब तक कोई बात नहीं थी पर जब चख लिया तब फिर यदि उसे अलूणा भोजन दिया जाय तो उसे वह नमक रहित भोजन बेस्वाद लगेगा । वैसे ही जिसने आत्मा को देखा या उसमें झांकने का प्रयत्न किया और अनुभूति के धरातल पर उसे अंकित कर लिया, वह ऐसी अलौकिक चेतना होगी कि फिर लौकिक चेतना के व्यवहार में उसे स्वाद की अनुभूति नहीं होगी । भक्तामर स्तोत्र में आता है-

दृष्ट्वा भवन्त मनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकर द्युति-दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ।।११।।

गोपियों के हृदय में इसी अलौकिक प्रेम की छवि देखकर सूरदास ने लिखा था-

जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै ।
सूरदास तजि कामधेनु को, छेरी कौन दुहावै ।।

वैसे ही जिसने आत्मा की छवि को एक बार निहार लिया और उसे अन्तर हृदय में अंकित कर लिया, क्या फिर बाहर की छवि उसे आकर्षित कर सकेगी ?

छवि अंतर की देखी जिसने,
बाहर फिर वह क्या देखे ।

क्या देखेगा बाहर ? देखने का कुछ रहा ही नहीं । जब तक भीतर नहीं देखा था, तब तक बाहर घूमता रहा । बाहर रौनक लगती रही । सोचता रहा- यह ठीक है, यह ठीक नहीं है । इसलिये परिवर्तन होता रहा,

क्योंकि सभी पदार्थ स्वरूप से समान नहीं होते, कोई कैसा होता है तो कोई कैसा। व्यक्ति भिन्न-भिन्न जायके लेता है। यदि थोड़े दिन निरन्तर एक ही भोजन करें तो रुचि रहेगी क्या ?

एक सेठ का लड़का था- गरीबी से तंग आ गया। किसी जमाने में सम्पत्ति थी, पर सम्पत्ति भी कोई एक जगह टिकने वाली तो होती नहीं। यह तो जल के बुदबुदे की भाँति है। कभी देखा होगा- पत्तों पर ओस बिन्दु जब सूर्य की किरण पड़ी तो वह चमकने लगी, पर कब तक चमकेगी ? हवा का झौंका आया नहीं कि वह समाप्त हो गई। सम्पत्ति भी यदि पुण्यवानी है तो लम्बे समय तक टिक सकती है, नहीं तो रातों-रात कोई भिन्न रूप दिखा सकती है। आपने अनुभव किया होगा और देखा भी होगा कि किसी समय में जिसके नाम का सिक्का चलता था, कालान्तर में लोग उसे भूल ही जाते हैं। सम्पत्ति भी हो सकती है, कहीं लम्बे समय तक टिक जाये अन्यथा वह क्षणिक चमक दिखाकर ही लुप्त हो जाती है। उस सेठ के पुत्र ने गरीबी से तंग आकर सोचा कि उस बहन के पास चलूँ, जिसकी शादी संपन्न परिवार में हुई थी। तब, जब यह परिवार भी संपन्न था अन्यथा गरीब की संपन्न से शादी कम ही होती है, कोई विरला ही गरीब की सुशील कन्या चाहता है, बाकी तो ऊपर की चमक-दमक की पहचान रखते हैं, चाहे गुण हों या न हों। कहावत भी हैं- 'सर्वेः गुणाः कंचनमाश्रयन्ति।' उसने सोचा- बहिन संपन्न है तो चलूँ चार दिन तो अच्छा भोजन मिलेगा, शांति मिलेगी। पहुँच गया। इधर बहिन सोचने लगी- भाई को मक्की की राब प्रिय है तो मिठाई तो रोक दी और मक्की की राब परोस दी। भाई ने सोचा- व्यक्ति के पुण्य जब क्षीण होते हैं, तब सुख देने वाले भी दुःख देने वाले बन जाते हैं।

पुण्य हीन जब होत है, उदय होत है पाप।
दाजे बन की लाकड़ी, प्रजलत आपो आप।।

उसे जलाने की जरूरत नहीं, चिनगारी स्वतः ही मिल जाती है।

पुण्य हीन है तो दुर्भाग्य के संयोग अपने आप बन जाते हैं । सोचा था- घर में मक्की खाता ही हूँ, बहिन के यहाँ परिवर्तन होगा । यह लौकिक चेतना है और जहाँ यह है, वहाँ सन्तोष नहीं होगा, चाह वनी ही रहेगी । जहाँ चाह है- लौकिक चेतना बरकरार है, वहाँ राग पैदा होगा । यदि उक्त चेतना का स्वरूप कैसा है, विचार करें तो जैसे मक्खन रहित दूध सारहीन होता है, वैसे ही वह चेतना सारहीन होगी । जहाँ रागात्मक चेतना होती है, वहाँ अन्तर-तिरोहित भाव होते हैं । जहाँ ऊँचे-नीचे भाव होंगे, वहाँ स्वभाव स्थिर नहीं रहेगा, परिवर्तन की चाह रहेगी । जहाँ परिवर्तन-प्रतिक्रिया है, वहाँ शांति नहीं मिलेगी । वहाँ राग-द्वेष की भट्टी में झुलसना होता है । किन्तु यदि अलौकिक चेतना का जागरण होगा तो उसका प्रतिफल बनेगा- 'विराग ।'

राग और विराग में भेद है, राग होता है- पदार्थों में । जिसकी चाह है, उसका अभाव पैदा होगा किन्तु जिसमें विराग है, वह आत्मा के स्वभाव से लगाव करेगा- 'विशिष्टा राग यस्मिन्' जिसमें विशेष राग है या जिसे अपनी आत्मा से विशेष राग हुआ है, वह है- विराग । ऐसा व्यक्ति आत्मा के प्रति अनुरक्त होगा । इसके विपरीत जिसमें राग है, वह पदार्थों में अनुरक्त होगा । लौकिक चेतना पदार्थ में और अलौकिक चेतना आत्मा के स्वभाव में अनुरक्त होगी । विराग की दूसरी व्याख्या विगतः... पदार्थ से जिसका राग चला गया, वह है- विराग । यह अवस्था भीतर पनपती है, वहाँ कामनाएँ तिरोहित हो जाती है, उसमें मुख्य रूप से एक ही भावना रहती है । भगवन् ! एक बार आप मेरे हृदय में अवतरित हो जाइये । अवतरण का मतलब है- आत्मा-परमात्मा का एक हो जाना- 'अप्पा सो परमप्पा ।' आत्मा ही परमात्मा है । परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि सिद्ध भगवान् या सुमतिनाथ भगवान् अवतरित हो गये, अभिप्राय यह है कि वहाँ भगवान् का अवतरण होता है- गुणों के माध्यम से । जब उन गुणों को विकसित कर लिया जाता है, तब वह लौकिक से अलौकिक में, राग से विराग में, अनात्मा से आत्मा में रूपान्तरित हो जाता है । उसके भीतर भी

वे गुण अवतरित हो जाते हैं । इन गुणों के अवतरण की अनुभूति के माध्यम से जब वह आत्मा में लीन होगा, तब अनुभूति होगी ।

'दर्पण जेम अविकार सुज्ञानी....।'

दर्पण देखा कभी ? कभी क्या रोज देखते हैं । जैसी छवि है, वैसी छवि दर्पण में आ जाती है, वैसे ही आत्मा की शुद्ध छवि विकार रहित होती है । बात विकार की आ गई । विकार पदार्थों से इन्द्रियों में पैदा होता है । पदार्थों में जो आसक्ति पैदा होती है, वहीं आसक्ति विकार का रूप धारण करती है । लौकिक चेतना में जब तक वह विकार है, तब तक वह अलौकिक चेतना नहीं बन सकती, उस अवस्था में पदार्थों से लगाव बना रहेगा । इसे यों समझें- एक व्यक्ति वृद्ध हो गया, दाँत चले गये, कुछ चबा नहीं पाता पर जो पहले खाया है, उसका जायका सताता है । सोचता है- दाँत होते तो खाता । विषय नहीं है, खाता नहीं है पर विकार बना हुआ है । ऐसे ही तृष्णा विकार का रूप है । जिनका आस्वादन किया है, वे अभी प्राप्त नहीं है पर यदि उनके प्रति लगाव है, उनकी प्राप्ति की आकांक्षा है तो वह भी विकार ही है । जब तक यह बना रहेगा, तब तक आत्मा को अलौकिक रूप में स्थापित नहीं किया जा सकेगा । जिसे अलौकिक रूप का विश्वास नहीं, उसमें ये प्रतिक्रिया के भाव चलते रहेंगे । आज आप प्रतिक्रिया उसे कहते हैं, जो तब आप में पैदा होती है, जब कोई आपकी निन्दा कर दें या बुराई कर दें- ये भी प्रतिक्रिया है । हम जी रहे हैं- प्रतिपल, प्रतिक्षण प्रतिक्रिया में । मैं कह रहा था कि जब भोजन करने बैठे, स्वाद नहीं आया तो भाव घड़ी के पेन्डुलम की भाँति हिलने लगे, चंचलता आ गई- कैसा भोजन है ? स्वाद नहीं, रोटी जली है या सिकी नहीं है ! ये भाव पैदा हुए, व्यक्त करें या न करें । कभी-कभी भाई सौगन्ध करते हैं कि जैसा आयेगा, वैसा भोजन कर लेंगे, प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेंगे । परन्तु सोचना या कहना सरल है पर मन में प्रतिक्रिया न आये, यह बहुत मुश्किल है । प्रतिज्ञा स्थूल जगत् की है किन्तु भाव जगत् में आसक्ति है, लगाव है । भावना के कारण चेतना विकार-युक्त हो जाती है । दर्पण विकार रहित

है, वह सामने आने वाले पदार्थ में दिखता नहीं होता । कोई दर्पण से मुँह या हाथ हटा ले, यह अलग बात है परन्तु जब तक मुँह या हाथ सन्मुख रहेगा, प्रतिबिम्ब दिखेगा ही । लेकिन जब हटालें तो वह अवश्य दर्पण से भी हट जायेगा । वैसे ही दर्पण की ही भाँति जब अलौकिक भाव जागृत होंगे, तब वैराग्य भाव भी जागृत होगा । अलौकिक का बोध अलग बात है। वह बोध जब होगा, तब अन्य की इन्द्रियाँ नजर नहीं आयेंगी । इन्द्रियों के विषयों में तब लगाव या उनके प्रति अनुराग नहीं होगा ।

हमें प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि महापुरुषों की अनुभूति में कैसे-कैसे भाव जगते थे- सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था । ये समकित के लक्षण कहे गये हैं पर यथार्थ में विचार करें निर्वेद आया या नहीं ? विराग भाव जागे या नहीं ? यदि नहीं जागे तो आत्मा के स्वरूप का बोध नहीं होगा । जिसने बोध कर लिया, उसकी प्रवृत्ति में परिवर्तन आयेगा, यदि नहीं आये तो समझें ऊपरी सतह पर हैं, लौकिक चेतना के स्तर पर हैं, अभी अलौकिक चेतना जागृत नहीं हुई है । उसे जागृत करने के प्रयास करें । बोध पाने के लिये संतों की शरण लें । इसलिये कहा है-

'उठो नर-नारियो जागो, जगाने संत आये हैं ।'

अलौकिक चेतना को जगाने का मार्ग भी संतों ने दिखाया है । आचार्य देव ने समता-समाज की रचना की । जो कल्पना की, जो अवधारणा प्रस्तुत की है, उसे मूर्त रूप देना होगा । उसे साकार कर अलौकिक चेतना को जगाना होगा । संतों का काम जगाने का है । यही बात मैं सभी के प्रति कह रहा हूँ- "उठो नर-नारियो जागो, जगाने संत आये हैं ।" जब अलौकिक चेतना का जागरण हो जायेगा, व्यक्ति तत्पर हो जायेगा फिर वह विराम नहीं लेगा, आगे बढ़ता ही जायेगा । संतों का काम जगाने का है, यदि यह जागरण हो जाय तो फिर वहाँ रूकने से क्या लाभ और यदि जागरण ही न हो तो भी रूकने से क्या लाभ ? जागरण हो गया तो काम बन गया । रगड लगायें और आग पैदा नहीं हो तो समझ लें कि

प्रयास में ही कुछ मौलिक कमी थी । हम जानते हैं कि एरण्ड की लकड़ी से आग पैदा होती है, यदि माचिस की काड़ी में मसाला न लगा हो तो भले ही एक, दो, तीन, पाँच बार रगड़ लगायें पर चिनगारी नहीं निकले तो क्या करेंगे ? तब उसे छोड़ कर दूसरी लेंगे और यदि एक बार की रगड़ से ही चिनगारी निकल आये तो फिर क्या रगड़ लगाते ही रहेंगे ? नहीं लगायेंगे । वैसे ही जागरण बन गया, रगड़ लग गई तो बहुत सुन्दर । नहीं लगी, जागरण नहीं हुआ तो रगड़ लगाते रहने से भी कोई परिणाम नहीं निकलेगा ।

भगवान् महावीर का इतिहास देखो । उन्होंने कितने-कितने उपसर्ग-परिषह सहन किये । संगम ने २० उपसर्ग दिये, पैरों में खीर बनाई, सहन कर लिया । प्रभु को पीड़ा नहीं हुई । कैसे परिवर्तन हो गया ? वे लौकिक चेतना में नहीं थे, अलौकिक चेतना में थे । अतः शरीर की ओर भाव ही नहीं थे, इसलिये पीड़ा का अनुभव भी नहीं था । इसी प्रकार जो व्यक्ति जान लेता है कि शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है । उसमें अलौकिक चेतना का स्वरूप प्रकट होता है । ऐसा रूप प्राप्त करने के लिये ही साधना है, आराधना है । यदि प्रयत्न करने के बावजूद जागरण न हो तो समझ लेना चाहिये कि हमारी कहीं न कहीं भूल है ।

मनुष्य जीवन की प्राप्ति मामूली बात नहीं है । यदि शान-शौकत में ही भूलकर जीवन रूपी चिन्तामणि रत्न, जो हमें मिला है, उसका उपयोग हम नहीं कर पायें तो यह हमारी भयानक भूल होगी । यह चिन्तामणि रत्न मिला है- कुछ कर गुजरने के लिये । यदि अभी ही इसका उपयोग नहीं किया तो फिर कभी नहीं कर पायेंगे । अतः यह समझ लें-

चांदनी ढ़ल जायेगी, काया जल जायेगी ।
माया विरलासी रे, जाग अविनाशी रे...।।

अविनाशी कौन ? शरीर तो नाशवान है । नष्ट होने पर कंधों पर ले जायेंगे, श्मशान में चिता पर लांपा लगाकर घंटे-दो घंटे में जला देंगे । ध्यान रखेंगे कि पूरा जल जाये, पूरा नहीं जला तो कहीं वापस उठकर न आ जाये । काया जली कि माया काफूर ! शरीर में रहते हुए लौकिक चेतना में न उलझ कर अलौकिक चेतना का बोध कर लें, फिर न दुःख रहेगा, न द्वंद्व । यदि यह अवस्था प्राप्त हो जाय तो समझ लीजिये कि सुख का साम्राज्य मिल गया । ऐसा व्यक्ति हर हाल में मस्त रहेगा, सुखी रहेगा-

'एगंत सुही मुणी वीयरागी ।'

वीतरागी मुनि एकान्त सुखी होता है, वहाँ पदार्थों में राग नहीं होता । प्रभु ने कहा है- दुःख से मुक्ति पाना है तो अलौकिक चेतना का जागरण करो, फिर कोई अवस्था दुःखी नहीं कर पायेगी ।

'सुखे-दुःखे वैरिणि वंधु वर्गे, योगे-वियोगे भवने-वने वा ।'

सुख हो या दुःख, वैरी हो या भाई, योग/मिलन हो या वियोग, मकान हो या जंगल, न खुशी न गम, उस स्थिति में इनसे कोई अन्तर नहीं आयेगा परन्तु इसकी अनुभूति हम भीतर ही कर सकते हैं, बाहर उसे व्यक्त नहीं कर सकते । गुड़ के स्वाद की भाँति अनुभूति होगी, आनंद आयेगा, अनुभूति में न गये तो वह स्थिति बननी कठिन है । इसलिये प्रयास करें और अलौकिक चेतना को जागृत कर लें, जीवन स्वतः ही भव्य एवं मंगलमय बन जायेगा ।

दिनांक : १२.१.१९९७, बम्बोरा

श्री राम उवाच

के अन्य भाग